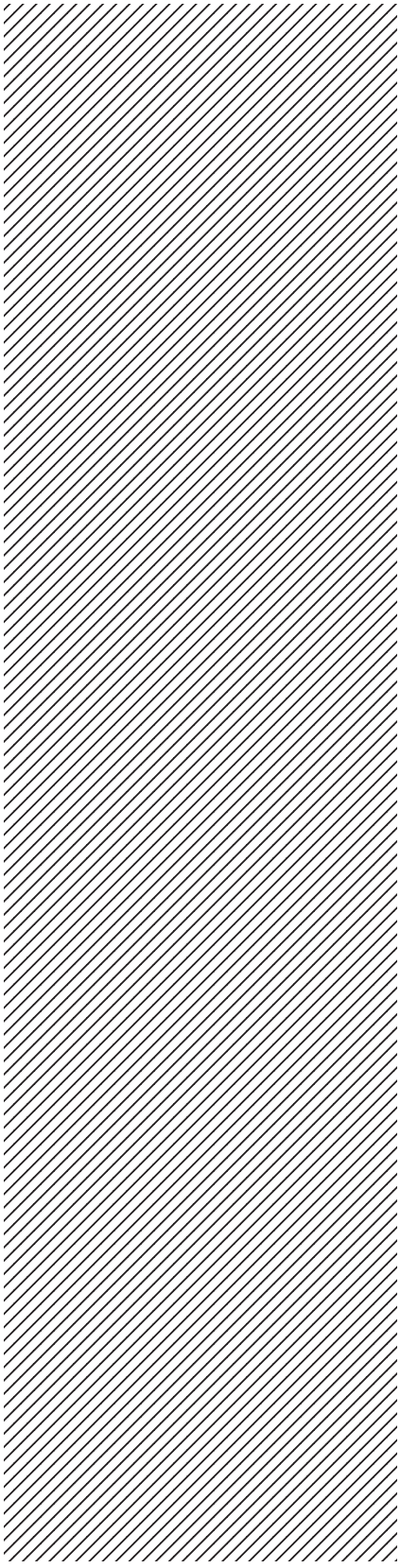

पुस्तक-वार्ता
द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका
अंक : 20
जनवरी-फरवरी 2009

संपादक
भारत भारद्वाज

सह-संपादक
राकेश श्रीमाल

प्रकाशक
महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी
विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, पंचटीला,
वर्धा (महाराष्ट्र) 442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व
E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com

© सम्बन्धित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से
विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति
अनिवार्य नहीं है।

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1,
वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032
यह अंक : 10 रु.
वार्षिक सदास्यता : 60 रु.
वर्धा से बाहर चेक के लिए वार्षिक 85 रु. और
द्वैवार्षिक 145 रु./- मनीआर्डर स्वीकार्य नहीं।

PUSTAK-VĀRTĀ
A Bi-monthly journal of Book Reviews
in Hindi
Published by Mahatma Gandhi
Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post Manas Mandir, Panchtila,
Wardha-442001 (Maharashtra)

संपादकीय संपर्क
11/A-I, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेन्ट्स
मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
टेली-011-42151470
मो.-09313034049
E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

अनुक्रम

कृती कवि	: **कुँवर नारायण** कुँवर नारायण : काव्याभिप्राय–मध्यलय की बन्दिश का उत्सव / **यतीन्द्र मिश्र**	६
कविता	: **वाजश्रवा के बहाने** / कुँवर नारायण अपूर्णता में सम्पूर्णता के दर्शन का राग / **गोपेश्वर सिंह**	९
मैं और पुस्तकें	: पुस्तक के साथ आलोचक के रिश्ते का पहला अध्याय / **नंदकिशोर नवल**	१२
उपन्यास	: **रेहन पर रग्घू** / काशीनाथ सिंह संवेदना, संबंधों और सामूहिकता का विध्वंस / **गीता शर्मा**	१८
उपन्यास	: **सेज पर संस्कृत** / मधु कांकरिया असंस्कृत धर्माचरण की हाहाकारी गाथा / **कान्तिकुमार जैन**	२१
आलोचना	: **आलोचना के हाशिये पर** / विश्वनाथ प्रसाद तिवारी आलोचना के हाशिये पर सही आलोचना / **रेवती रमण**	२३
डायरी	: **दाना पानी** / लीलाधर मंडलोई कहाँ का दाना-पानी? / **उमा शंकर चौधरी**	२६
आत्मकथा	: **पिंजरे की मैना** / चन्द्रकिरण सौनरेक्सा पिंजरे से बाहर मैना / **ज्योति चावला**	२९
निबन्ध	: **हिन्दी का पक्ष** / पंकज बिष्ट हिन्दी का पक्ष : नये अन्दाज में / **मस्तराम कपूर**	३१
विरासत	: **किसकी विरासत हैं ह्वेन-त्संग?**	३३
इतिहास	: **एक पुनर्यात्रा, ह्वेन-त्संग की राह पर**	३५
धरोहर	: रेणुजी का 'मैला आँचल' / **नलिन विलोचन शर्मा**	४०
देशान्तर	: **शेक्सपियर : द वर्ल्ड ऐज स्टेज** / विल ब्रायसां शेक्सपियर : मिथक और यथार्थ / **प्रभात रंजन**	४२
समय-जुलाहा	: निराला का 'बंधु' / **कुबेर दत्त**	४४
साहित्य-कोलाहल	: चिड़िया नहीं होती तो जंगल उदास होता / **प्रज्ञाचक्षु**	४७
स्मरण	: दिल्ली से दूर सिद्धनाथ कुमार / **प्रियदर्शन**	५१
आगमन	: आत्मकथा का नया क्षितिज / **अनंत विजय**	५३
फिल्म	: मुम्बइया फार्मूलों का कोलाज़ / **मुकेश कुमार**	५५

कुलपति की कलम से

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की तीनों पत्रिकाएँ–'बहुवचन', 'पुस्तक-वार्ता' और 'हिंदी : लैंग्वेज डिस्कोर्स राइटिंग'–एक नई शुरुआत के साथ आपके हाथों में हैं। नये सम्पादकों की टीम इन्हें आपके सामने पेश कर रही है। नयेपन के बावजूद इनमें एक निरंतरता भी है। नये संपादकों ने अपने पूर्ववर्तियों के काम को आगे बढ़ाने की कोशिश की है। स्वाभाविक है कि हर पत्रिका अपने नये संपादक के मिजाज, समझ और सक्रियता के अनुसार परम्परा का अंग होने के बावजूद कहीं न कहीं भिन्न भी है।

हिंदी समाज विवादप्रिय है। जब इन संपादकों का चयन किया गया तो कई लोगों ने अलग-अलग कारणों से चयन पर उंगलियाँ उठाईं। मैं कोई सफाई नहीं देना चाहता क्योंकि मुझे लगता है कि इनके अतिरिक्त दूसरे कोई नाम होते तब भी इसी तरह की शिकायतें उन्हें लेकर बहुतों को होतीं और उन नामों पर भी ऐसी ही आपत्तियाँ दर्ज की गई होतीं। विश्वविद्यालय द्वारा चयनित सभी सम्पादक साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता क्षेत्र के प्रतिष्ठित नाम हैं। अगले कुछ अंकों में उनके द्वारा प्रकाशित सामग्री उनकी क्षमता को परखने की कसौटी होनी चाहिए।

अपनी सीमाओं का बोध मुझे हमेशा उस बड़बोलेपन से बचाता है जिसमें व्यक्ति कहीं न कहीं इस गलतफहमी का शिकार हो जाता है कि उसके पदार्पण के पहले मंच पर जो कुछ चल रहा था वह गलत था और अब वह आ गया है इसलिए सब ठीक हो जाएगा। नौकरशाही का लम्बे समय तक हिस्सा रहने के बाद जब मैं विश्वविद्यालय से जुड़ा तो मैंने पाया कि अकादमिक नौकरशाही में भी यह भावना कूट-कूट कर भरी है। मेरा मानना है कि हम सबके भीतर एक इतिहास बह रहा है–हम सभी अपनी समझ और सामर्थ्य के मुताबिक इस प्रवाह में डूबते-उतराते हैं। शताब्दियों में कोई एक व्यक्तित्व निर्मित होता है जो इतिहास की इस धारा को मन-मुताबिक मोड़ पाता है। खुद को लेकर मेरे मन में कहीं कोई भ्रम नहीं है और मेरा मानना है कि भाषा, साहित्य और समय में अपनी सीमाओं के बावजूद यदि मैं कोई दखल दे पाया तो इसके पीछे कहीं न कहीं उस परम्परा का भी योगदान

होगा जिसे मेरे दो सुयोग्य पूर्ववर्तियों–श्री अशोक वाजपेयी और श्री गोपीनाथन ने समृद्ध किया।

विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ विमर्श और रचनाशीलता का लोकतांत्रिक मंच बनें–ऐसा मेरा प्रयास होगा। मुझे निकट से जानने वालों को पता है कि वैज्ञानिक चेतना में विश्वास रखनेवाला मैं पूरी तरह से नास्तिक हूँ पर वे यह भी जानते हैं कि अपने आसपास फैली आस्तिकता से मुझे कोई परेशानी भी नहीं होती। पत्रिकाओं के सम्पादकों से विचार-विमर्श के दौरान मेरा निवेदन यही था कि विश्वविद्यालय की तरह उसकी पत्रिकाएँ भी हिन्दी समाज का, उसकी पूरी विविधता को समेटते हुए, प्रतिनिधित्व करें। मुझे प्रसन्नता है कि सम्पादकों ने मेरा आग्रह स्वीकार किया और तीनों पत्रिकाओं के नए अंकों की सामग्री इस तथ्य को प्रमाणित करेगी कि इन रचनाओं में गुटों, वादों और व्यक्तिगत रागद्वेष से परे अपनी रचनाशीलता और बहुलता के साथ हिन्दी समाज मौजूद है। पाठक बहुवचन, पुस्तक-वार्ता और हिन्दी : लैंग्वेज डिस्कोर्स राइटिंग के इन अंकों में एक फर्क यह पायेंगे कि इनमें प्रधान सम्पादक के रूप में कुलपति का नाम नहीं है। इसके पीछे सिर्फ एक कारण है। मेरा मानना है कि पत्रिकाओं के सम्पादकों को पूरी स्वायत्तता मिलनी चाहिए और वहाँ मेरी मौजूदगी की कोई वजह नहीं है।

पिछले तीन दशकों में हिंदी समाज अपनी उदार परंपराओं से भटका है और उसमें कट्टरता, अवैज्ञानिकता तथा असहिष्णुता की प्रवृत्तियाँ बढ़ी हैं। एडवर्ड सईद ने एक बार किसी विश्वविद्यालय के छात्रों और अध्यापकों के बीच बोलते हुए इन प्रवृत्तियों से संघर्ष को विश्वविद्यालय के अस्तित्व के लिए एक जरूरी शर्त के रूप में रेखांकित किया था। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय को लेकर मेरे मन में भी यही सपना है कि यह एक ऐसी संस्था के रूप में विकसित हो जहाँ कट्टरता के लिए कोई जगह न रहे और जो अपने से जुड़े लोगों में लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और वैज्ञानिक चेतना के प्रति सम्मान पैदा कर सके। हाल में हमने यही सोचकर 'हिंदी समय' के नाम से पाँच-दिवसीय विमर्शों की एक शृंखला आयोजित की थी जिसमें चार सौ के लगभग हिंदी के लेखक, ऐक्टिविस्ट, नाटक तथा फिल्मों से जुड़े लोग, पत्रकार और अकादमिक विद्वान एकत्र हुए और उन्होंने पिछले सौ वर्षों के हिन्दी समाज के बदलते यथार्थ को समझने का प्रयास किया। विश्वविद्यालय के छात्रों और अध्यापकों के लिए तो यह अद्‌भुत अनुभव था ही, भाग लेनेवाले भी समृद्ध होकर लौटे। लगभग 25 सत्रों में विभक्त इस विमर्श में साहित्य, समाज और भाषा से जुड़े विभिन्न मुद्‌दों पर जीवंत बहसें हुईं और प्रधान स्वर के रूप में यह समझ उभरी कि बिना लोकतांत्रिक हुए हिन्दी का कोई भविष्य नहीं हो सकता। विश्वविद्यालय अगले कुछ दिनों में इसी समझ को विस्तार देने की कोशिश करेगा। हम अगले सत्र से ही हिंदुस्तानी का पाठ्यक्रम शुरू करने जा रहे हैं। इसे इसी प्रयास का अंग समझा जाना चाहिए। इन बहसों में कई बार तल्खियाँ भी महसूस हुईं लेकिन कुल मिलाकर उनसे जो निष्कर्ष निकले वे हिंदी समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण होंगे और आनेवाले वर्षों में इन्हें केंद्र में रखे बिना कोई भी बहस अधूरी ही रहेगी। विश्वविद्यालय शीघ्र ही इन विमर्शों पर केंद्रित पुस्तकें प्रकाशित करेगा।

विभूति नारायण राय

सं पा द की य

मेरे पथ में न विराम रहा...

महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा द्वारा प्रकाशित द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका पुस्तक-वार्ता का प्रवेशांक सितम्बर-अक्तूबर, 2001 में निकला था। अपनी प्रकृति और विषयवस्तु की दृष्टि से पत्रिका मुझे अच्छी लगी थी। हिन्दी संसार ने इसका हार्दिक स्वागत किया था। आरम्भ में नियमित लेकिन बाद में रुक-रुककर पत्रिका निकलती रही। पत्रिका का पिछला अंक जनवरी-फरवरी, 2008 (वर्ष 5, अंक-19) विश्वपुस्तक मेला के अवसर पर निकला था। इतनी अच्छी पत्रिका अचानक बन्द कैसे हो गई, इसका वृतान्त मुझे ठीक से नहीं मालूम। लेकिन ऐसी पत्रिका के निरन्तर निकलने की अनिवार्यता मैं अवश्य महसूस करता रहा।

इस पत्रिका को पुनर्जीवित करने का दायित्व जब मुझे सौंपा गया, बहुत संकोच और हिचकिचाहट के साथ मैंने इसे स्वीकार किया। मुझे मालूम है एक अच्छी पत्रिका का सम्पादन करना कितना मुश्किल और दायित्वपूर्ण होता है। मेरी भरसक कोशिश रहेगी कि पत्रिका के मूल चरित्र और संकल्प की रक्षा करते हुए यथा सम्भव इसे दिलचस्प और पठनीय बना सकूँ। सम्पूर्ण कुछ नहीं होता न जीवन, न साहित्य और न ही यथार्थ। विश्वविद्यालय से ही निकल रहीं दो अन्य पत्रिकाओं-'बहुवचन' (हिन्दी त्रैमासिक) और 'हिन्दी' (अंग्रेजी त्रैमासिक) से इस पत्रिका की प्रकृति थोड़ी अलग है। यह मुख्यत: समीक्षा (रिव्यू) की पत्रिका है। कुछ-कुछ अंग्रेजी की 'बिब्लियो' और 'दि बुक रिव्यू' की तरह। लेकिन भविष्य में इसकी प्रकृति में थोड़ा बदलाव करते हुए इसे सृजनात्मकता और समकालीन वैचारिक विमर्श का उन्मुक्त मंच बनाने की मेरी आकांक्षा है।

'विशाल भारत' के यशस्वी और विवादास्पद सम्पादक पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने 1938 ई. में पत्रिका के नये सम्पादक सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' को सम्पादन का भार सौंपते हुए 'ब्लेक लिस्टेड' लेखकों की एक सूची भी उन्हें दी थी यह आगाह करते हुए कि वैसे लेखकों को पत्रिका में छापने की जरूरत नहीं। अज्ञेय ने चुपचाप उनसे सूची ले ली थी। बाद में अज्ञेय ने अपने सम्पादकीय में टिप्पणी की-जिन लेखकों से मेरा साबका नहीं पड़ा, जिनकी रचनाएँ मैंने नहीं पढ़ीं, जिनके दाँव-पेंच से मेरी मुठभेड़ नहीं हुई, किस नैतिकता के आधार पर मैं उन्हें खारिज कर दूँ? सचमुच मेरे लिए यह प्रसन्नता की बात है कि मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ।

पत्रिका के प्रस्तुत अंक में मेरी कोशिश रही है कि वर्ष 2008 में प्रकाशित हिन्दी साहित्य और साहित्येतर अनुशासन की महत्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षाएँ दूँ।

इस बीच देश और विदेश के कई महान रचनाकार और संस्कृतिकर्मी हमसे बिछुड़े-हेराल्ड पिंटर, महमूद दरवेश, अहमद फराज, बच्चन सिंह, इन्दु जैन, विजय तेन्दुलकर, कीर्तिचौधरी, वेणुगोपाल, गंगाधर गाडगिल, का. अरविन्द, सिद्धनाथ कुमार, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, सुमन राजे, मदन गोपाल, लवलीन, रामचन्द्र तिवारी, विजयपालसिंह, त्रिभुवनसिंह, सुदीप बनर्जी तथा यादवेन्द्र शर्मा 'चंद्र'। उन्हें हमारी हार्दिक श्रद्धांजलियाँ। इस अंक में ह्वेन-त्संग प्रसंग और मिस्सी शरण की ऐतिहासिक यात्रा को सामने लाना मुझे इसलिए जरूरी लगा है कि हम प्रसिद्ध इतिहासकार ई.एच. कार की पुस्तक 'ह्वाट इज हिस्ट्री' की अवधारणा को ठीक से परख सकें। इसी अंक में प्रो. सिद्धनाथ कुमार का स्मरण प्रियदर्शन ने किया है। पत्रिका के आगामी अंकों में भी दिवंगत लेखकों पर सामग्री प्रकाशित करने की योजना है।

हम हिन्दी के विद्वानों और सुधी पाठकों के सुझाव का स्वागत करेंगे। यदि वे हमारी 'भूल-गलती' पर उँगली उठाएँगे तो हमें अच्छा लगेगा।

कुँवर नारायण : काव्याभिप्राय-मध्यलय की बन्दिश का उत्सव

यतीन्द्र मिश्र

एक अन्तिम साँस अभी शेष है
साक्षी उन दिनों की जिन्हें उसने
किसी तरह जीवित रखा
निरन्तर सींच कर आत्मा के रक्त से।
–कुँवर नारायण

कुँवर नारायण जी के बारे में सबसे आसान परिभाषा यह है कि वे कवि हैं। मगर यह उतनी आसान नहीं क्योंकि कवि होने के साथ-साथ वे एक धीर आलोचक भी हैं। यह कठिनाई तब और बढ़ जाती है जब हम यह देखते हैं कि आलोचक के अलावा वे कला समीक्षक भी हैं, जिनकी परिधि में संस्कृति एक निकाय की तरह मौजूद रहती है और हमें यह जानने में देर नहीं लगती कि कुँवर नारायण का कवि और आलोचक विभिन्न सोपानों पर एक यांत्रिक की तरह गमन करता है। उन दोनों के मिश्रित सम्बन्ध से बनने वाली दृष्टि उनके लिए किसी विशिष्ट तर्क की स्थापना का अभिप्रेत बनती है, साथ ही संस्कृति के विभिन्न अवयवों के स्वरूप, उनके स्थापत्य, उससे होने वाले सम्मोहन और उन सम्मोहनों की अर्थछवियों की महत्ता का अभिप्राय भी संकेतित करती है। यहाँ मैं संस्कृति को तमाम सारी अभिव्यक्तियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त कर रहा हूँ। सिर्फ समीक्षा का दायरा संकीर्ण जान पड़ता है, फिर ऐसे आलोचक के सन्दर्भ में तो और भी कमतर लगता है, जिसने एक साथ साहित्य, कला, संगीत, सिनेमा, लोक, स्थापत्य एवं रंगमंच पर गहरी निस्संगता से विचार किया हो। यहाँ हम महसूस कर सकते हैं कि कुँवर जी के आलोचक का संस्कृति-विमर्श उनके इर्द-गिर्द बनने वाले संसार के छोटे-बड़े अनुभवों की ऐसी अपूर्व व्याख्या है, जहाँ वह अपनी निर्मितियों से ऐसा आकाश सुलभ कराते हैं, जिसमें सारी रचनात्मकता व आलोचना समन्वय का एक विलम्बित सुर ध्वनित करती है। कुछ-कुछ भक्तिकाल के उन सन्त कवियों जैसी जिसमें एक साथ भक्ति और समर्पण, मोह और वैराग्य, जुड़ाव और निर्लिप्तता मौजूद है।

जीवन में आने वाले तमाम संशयों से जूझते हुए, कुँवर नारायण संशयों से पार जाने वाले कवि हैं। बल्कि यह कहना ज्यादा मुनासिब होगा कि वे आकांक्षाओं, विसंगतियों, ऊहापोहों एवं वर्जनाओं से लगातार प्रश्न करने वाली कवियों की वृहद परम्परा के निहायत प्रासंगिक व जरूरी कवि हैं। उसी तरह, जिस तरह की लीक निराला, मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन और रघुवीर सहाय अब तक बनाते रहे हैं। यह कम लोग जानते होंगे कि कुँवर नारायण और रघुवीर सहाय एम.ए. के दिनों

में सहपाठी रहे हैं और दोनों ही ने लखनऊ में अपने अध्यापन के समय से मज़ाज़, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर और यशपाल की सोहबत में अपने साहित्यिक संस्कार विकसित किए। शायद यही कारण है कि दोनों ही में एक सजग किस्म की वैचारिकता लगातार सक्रिय रही है। कुँवर जी में रघुवीर सहाय की सोहबत का वह आम आदमी भी बखूबी उतर आया है, जो उनके दार्शनिक कवि मन को सर्वाधिक घेरता रहा और अवध की बेलौस जीवन्त बतकही भी, जो नागर जी के दरबार से उठकर कुँवर जी के भाषा के घर के अन्दर सीधे चली आयी है।

'मानवीयता', 'नैतिक आग्रह' एवं 'संघर्ष की जिजीविषा' कुछ प्रत्यय ऐसे हैं, जो कुँवर नारायण की कविता का ताना-बाना तय करते रहे हैं। साथ ही, हमें आसानी से उनकी बड़ी काव्य-यात्रा में जो निर्णायक सूत्र बराबर से मिलता रहा है, वह यही है कि भाषा, शिल्प, कला और विचार सभी के बीच में से निकलकर मनुष्य की निजता का भरा-पूरा मानवीय दायरा ही उनकी रचना का अभीष्ट बनता है। शायद इसी कारण अपनी काव्य यात्रा में वे मिथक, संस्कृति, उपनिषद एवं वैदिक वाङ्मय सभी को सहजता से शरीक कर लेते हैं। गम्भीरता कुँवर जी के लेखन का पर्याय है, जिसके चलते उनकी पूरी रचना यात्रा में मानवीय संवेदना ही नहीं, उदासीनता की व्यापक स्थितियाँ भी बड़े निर्णायक ढंग से दर्ज़ हुई हैं। यह देखने के लिए सिर्फ एक बानगी भर काफी है–

फिर मेरे पाँवों तले
रख दी गयी है
एक पृथ्वी
फिर मुझे थमा दी गयी है
एक ज़िन्दगी की लगाम
थरथराते पाँवों में फँसा दी गयी हैं
रक़ाबें
फिर उठता चारों ओर
वही पागल शोर
नसों पर फिर वही असह्य दबाव
'या तो सिद्ध करो दिग्विजय
या स्वीकार करो दास-भाव!'

कुँवर नारायण की कविता में बयान की संक्षिप्ति, भाषा प्रौढ़ता, वक्रोक्ति का संयम और एक आत्मीय किस्म का सन्तुलन दिखता है, जो पूरी काव्य प्रक्रिया को अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से जोड़कर कहीं गहरे अपने काव्याभिप्राय को व्यक्त करता है। कविता में इसी कारण एक अज़ीब किस्म का बेगानापन और प्रार्थनानुमा टोन दोनों ही देखे जा सकते हैं। यह निस्संगता कुछ-कुछ फकीरी ठाठ या निर्गुण सन्तों की बानियों जैसा असर पैदा करती है। यह विशेषता भक्तिकाल की है, जहाँ सामंजस्य और स्नेह दोनों जीवन मूल्य की तरह बरते जाते हैं। कुँवर जी की इस तरह की असंख्य कविताओं में एक क्लासिकी स्पर्श है, जो उन्हें अपनी भाषा की महान परम्परा का अनुशासित सदस्य बनाता है। यहाँ दीगर यह है कि कवि किसी बड़बोलेपन से नहीं, बल्कि अपनी सहज बानी में उस वाग्मिता की अभिव्यक्ति करता है, जिसके आदि और अनंत दोनों छोरों पर अपनी पूर्ववर्ती कविता के साथ असीम तल्लीनता बनी हुई है। यह साहित्य की बड़ी धारा का वह अनुषंग रूपक है, जिसमें सारे कवि रचनाकार और परिदृश्य पर मौजूद समस्त कविता किसी अनजानी डोर से बँधी मिलती है। कुँवर जी स्वयं स्वीकारते हैं–*'क्लासिक' पद से जो विशेष काव्य गुण ध्वनित होते हैं जैसे सन्तुलन, व्यवस्था, परिमार्जन, परिष्कार, संरचनात्मक दृढ़ता वगैरह उनके पक्ष में हूँ, परन्तु उस स्वच्छंदता, कल्पनाशीलता, भावनात्मक ऊर्जा आदि को भी उतना ही महत्त्व देता हूँ, जो कविता के रोमांटिक पक्ष माने जाते हैं, और जिनके बिना प्राणवान मौलिक रचना सम्भव नहीं।'*

कुँवर जी का साथ शास्त्रीयता का साथ है। वे लोक के विरोधी नहीं, पर उससे सामंजस्य के बावजूद थोड़ी दूर-दूर चलते हैं। उनके यहाँ ख्याल की अपूर्व प्रतिष्ठा है मगर कजरी, चैती का लोक उल्लास गाहे-ब-गाहे ही दिखता है। सत्यजित रे, मृणाल सेन, अदूर गोपालकृष्णन, कुरोसावा और किएस्लोवस्की तो उनकी चिन्तन में झलक जाते हैं, मगर सिनेमा की पॉपुलर कल्ट कहीं दिखाई नहीं पड़ती। हो सकता है यह उनकी पसन्द का सवाल हो, मगर एक गम्भीर अध्येता और जागरूक रचनाकार से यह उम्मीद करना गलत या ज्यादती नहीं कि उसके रचना-संसार में

यह लोकप्रिय तत्त्व अछूता क्यों रहा है और ख्याल की गम्भीरता में लोक गायन शैलियों का उल्लास कहीं धूमिल पड़ गया। यह दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि श्रोताओं और समीक्षकों द्वारा इस लोक-संसार पर ठीक तरह से ध्यान न दिये जाने के कारण हमारे बीच से कुडियाट्टम रंग नृत्य शैली, यक्षगान परम्परा, गन्धर्वगान, रास, मर्सिया गायकी, नौहा, सलाम आदि धीरे-धीरे लुप्त होने लगे हैं। कुँवर जी की साहित्य एवं कला आलोचना एक संयत और आत्मसजग कलाकार की आलोचना है। वह जब तक कवि से मुखातिब रहती है, हम कुमार गन्धर्व और अमीर.खाँ पर अनूठी टिप्पणियों से साथ *अमीर खुसरो, अनारकली, मद्धिम उजाले में, कापका के प्राहा में, सबीना एवं अजीब सी मुश्किल में हूँ इन दिनों* जैसी कविताएँ पा जाते हैं और जब उसका साथ आलोचक का होता है, तब साहित्य पर गम्भीर विमर्श के साथ सिनेमा, रंगमंच और भाषा-परम्परा की महीन बुनावट का काम देखने को मिलता है। यह सारी रचनात्मक स्थिति, आलोचक की उस व्यापक 'स्मृति' का हिस्सा है, जो एक साथ सांस्कृतिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक या बिल्कुल निजी आशयों से उपजी है और इन स्मृतियों की पहचान का सन्दर्भ इतना जीवनधर्मी है कि यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि यह स्थापनाएँ कितनी जल्दी अपनी अनुपमेय उपस्थिति का वृत्त बना लेती हैं।

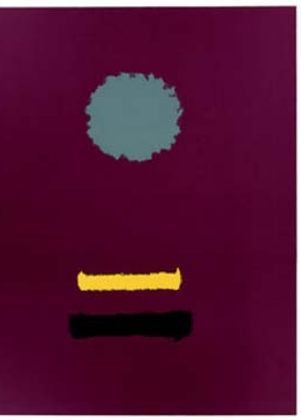

साहित्य का सबसे बड़ा दाय यही है कि वह सब कुछ को, भले ही वह दो विपरीत परिस्थितियों के मेल से बना हो या बहुत से विरोध के साथ दर्ज होता हो, एक आकाश के नीचे प्रतिष्ठित करना चाहता है। वह वामन के डग की तरह है कि दूसरा चरण कहाँ रखे और सारी सृष्टि नप जाए? साहित्यलोचना की सृष्टि भी योग वाशिष्ठ की 'सृष्टियों' की तरह है, जिसमें एक ही कालखण्ड में बहुत सारा समय समाहित होता है। वह उस कला की भाँति है; जिसमें बहुतेरी मित्र कलाएँ आश्रय लेती हैं। वह ऋत्विक घटक की फिल्म 'कोमल गांधार' की तरह है, जिसके चाक्षुष पाठ में एक साथ कविता, संगीत और दृश्य की अनेक सृष्टियाँ सक्रिय हैं। एक कवि की आलोचना भी इसी तरह अनेकार्थी होती है। अपने कई निबन्धों में कुँवर जी एक साथ कई स्थापनाएँ करते हैं और उसके साथ एक बड़ी सृष्टि का निर्माण, जिसमें उस आलोचना का एक स्थायी व गम्भीर पाठ बनता है। जब वे सिनेमा पर लिखते हैं, तो परस्पर दो कलाओं, साहित्य और सिनेमा की एक-दूसरे के प्रति प्रतिबद्धता और सीमा को परखते हैं और जब उपन्यास और कथा-आलोचना में उतरते हैं, तब निष्पक्ष ढंग से ऐसी बेलाग सच्चाई से हमारा सामना होता है कि रचना के प्रति बिल्कुल नयी स्थापनाओं को हम प्रभावी ढंग से पाते चले जाते हैं।

दलों और वादों की राजनीति से भरसक बचते हुए कुँवर नारायण ने एक आत्मसजग रचनाकार की हैसियत पायी है। या इसे हम इस तरह कह सकते हैं कि उन्होंने अपने विवेक को सर्वोपरि रखते हुए मानवीयता के सरोकारों पर चलने की परिपाटी को सर्वाधिक तरजीह दी है। उनकी कविताओं या अन्य रचनात्मक उपस्थिति में हमें मानवीय मूल्यों के प्रति उनकी कोमलता, शास्त्रीय संयम और रोमांटिक ऊर्जा-तीनों का अद्‌भुत संगम देखने को मिलता है। स्मृति, ऐतिहासिकता, मिथकीय सत्य एवं जीवन के असंख्य जटिल व समावेशी परिप्रेक्ष्य कुँवर नारायण जैसे सर्जक को हिन्दी ही नहीं, भारतीय भाषाओं के एक अप्रतिम मूर्धन्य के रूप में स्थापित करते हैं। यह अकारण नहीं है कि 'आत्मजयी' यदि मृत्यु की निराशा के विरूद्ध एक मनोवैज्ञानिक मोर्चा और जीवन के प्रति आस्था का ग्रन्थ है, तो 'वाजश्रवा के बहाने' दो पीढ़ियों के बीच कहीं समावेशी जीवन विवेक को खोजने का आश्वस्तिपूर्ण प्रयास है। *अपने सामने, कोई दूसरा नहीं* तथा *'इन दिनों'* जैसे संग्रह उनकी उदारचेता मानवीय भावना को मार्मिक ढंग से न सिर्फ व्यक्त करते हैं, बल्कि दूसरे छोर पर सारी जीवनानुभूति को सहलाते हुए यथार्थपरकता की पथरीली जमीन को मजबूती से पकड़े रहते हैं।

सही अर्थों में कुँवर नारायण एक अजातशत्रु सर्जक ही नहीं, बल्कि एक सर्वप्रिय सामाजिक हैं, जिनकी रचनाओं की छाँव तले एक पूरी नयी कवि पीढ़ी साँस ले रही है। यदि किसी रूपक के तौर पर परखना हो, तो कुँवर नारायण की साहित्यिक यात्रा शास्त्रीय संगीत में उस मध्यलय की बन्दिश का उत्सव लगती है, जहाँ द्रुत और विलम्बित का सम्भावनापूर्ण मिलन होता रहता है। साथ ही उस लय से उठने वाली मींड़ आलाप अपना एक नया आसमान रचती रहती है। कुँवर नारायण की उपस्थिति इस मायने में अचरज भरी तथा ऐतिहासिक ही मानी जायेगी कि विवादों के लिये जैसे यह चेहरा बना ही न हो। हम जिस अराजक समय में जी रहे हैं, उसमें कुँवर नारायण का ऐसा व्यक्तित्व एक जीवाश्म की तरह ही माना जायेगा, जो हमारी धरती पर कभी जरूर था, मगर आज उसके जैविक लक्षण ढूँढ पाना लगभग असम्भव है।

गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आचार्य कृपलानी, कबीर, पाब्लो नेरूदा, ग़ालिब, स्तेफान मलार्मे, काफ्का, रिल्के, प्रेमचन्द, बोर्खेस, अभिनव गुप्त, आचार्य नरेन्द्रदेव, वासुदेव शरण अग्रवाल एवं उस्ताद अमीर ख़ान से प्रभावी किस्म की प्रेरणाएँ लेते रहे कुँवर जी ने अपना स्थान भी कहीं-न-कहीं इसी प्रकार की सूची में पूरे सम्मान के साथ दर्ज करा लिया है। वे स्वयं मानते हैं कि प्रेरणाओं के अर्थ को संकुचित कर देना उचित नहीं। वह नक्षत्रों की तरह होते हैं, जिनसे हमें अपनी जगह और दिशा खोजने में मदद मिलती है : जैसा गणित में होता है-उन्हें स्वयं सिद्ध मानकर हम अपनी समस्याओं को सुलझाते हैं, उनमें उलझे नहीं रह जाते।

कुँवर नारायण का व्यापक पाठक वर्ग इस अंकगणित को बखूबी जानता है कि किस तरह एक आत्मसजग रचनाकार ने हर प्रकार की आत्मवंचना से बचते हुए स्वयं के सरोकारों की दुनिया को कितना बड़ा बनाया है। शायद इन्हीं वजहों के चलते ग़ालिब के नज़दीक रहते हुए भी वे ज़िगर के इस शेर के सबसे ज्यादा करीब पहुँचे हैं-

''उनका जो फ़र्ज़ है वो अहले-सियासत समझें
मेरा पैग़ाम मोहब्बत है जहाँ तक पहुँचे।''

राजसदन, अयोध्या (उत्तर प्रदेश) 224123

अपूर्णता में सम्पूर्णता के दर्शन का राग

गोपेश्वर सिंह

एक दिन बातचीत में दिल्ली विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग के एक प्रोफेसर ने, जो मेरे मित्र भी है, कहा ''मैंने कुँवर नारायण की कविता-पुस्तक 'वाजश्रवा के बहाने' पढ़ी। सुन्दर कृति है।'' यह बात मेरे लिए चौंकानेवाली घटना की तरह थी। एक तो दूसरे विषयों के लोग अब साहित्य पढ़ते नहीं। दूसरी बात यह कि मैंने तब तक वह रचना स्वयं नहीं पढ़ी थी। तब तक कुँवर जी को ज्ञानपीठ पुरस्कार भी नहीं मिला था। उन्होंने मुझसे पूछा : 'आपने तो पढ़ी होगी? 'मैंने थोड़ा झिझकते हुए कहा : ''अभी नहीं पढ़ी। जल्दी पढ़ूँगा। लेकिन आप बताएँ कि वह रचना आपको क्यों पसन्द आई?'' वे थोड़ा रूके, शायद वे इस 'क्यों' का उत्तर देने के लिए तैयार नहीं थे। फिर बोले : ''अच्छी लगी। क्यों अच्छी लगी, यह कहना मुश्किल है। हाँ, इतनी अच्छी लगी कि मुझ पर अब तक उसका असर है।'' उन्होंने कुछ सोचते हुए आगे कहा : ''जीवन में विश्वास पैदा करनेवाली कविता है। सकारात्मक दृष्टिकोण की कविता। भारतीय संस्कृति की प्राणधार से निकली कविता।''

मेरे मित्र हिन्दी भाषी हैं, किन्तु जैसा कि चलन है, वे भी अंग्रेजी में ही अपना सारा बौद्धिक कार्य करते हैं। यद्यपि अंग्रेजी के साथ वे परिष्कृत हिन्दी भी बोलते हैं और अपने हिन्दी-प्रेम तथा कभी-कभार के साहित्य प्रेम के लिए हाईस्कूल के अपने एक शिक्षक का नाम आदर सहित लेते हैं। बहरहाल, अब जब कि मैं 'वाजश्रवा के बहाने' पढ़ रहा हूँ। मुझे सहसा अपने वे मित्र याद आ रहे हैं। साहित्य उनका प्रोफेसन नहीं है। जब-तब स्वान्त : सुखाय वे कुछ पढ़ लिया करते हैं। किन्तु उन्होंने जो कहा था, उससे न चाहते भी मैं सहमत हूँ। अन्त में उन्होंने कहा कि कवि की ऐसी पंक्तियाँ मुझे बेहद अच्छी लगती है : ''वह उदय हो रहा पुन :/ कल जो डूबा था/ उसका डूबना/ उसके पीठ पीछे का अँधेरा था/ उसके चेहरे पर लौटते जीवन का सवेरा है।'' बेशक ये पंक्तियाँ जब वे सुना रहे थे, हुबहू उन्हें याद नहीं थी। लेकिन भाव और शब्द बिल्कुल क्रम मे ठीक थे। यह इस कृति का प्रभाव था, जिससे उनकी स्मृति संचालित थी।

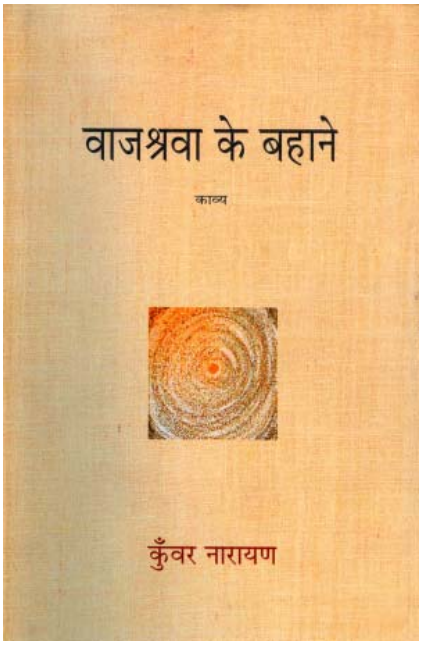

वाकई 'वाजश्रवा के बहाने' को पढ़ना एक सुन्दर लोक की यात्रा है। बहुत दिनों बाद एक बहुत ही अच्छी काव्य कृति पढ़ने का अनुपम सुख देने वाली कृति है यह। आधुनिक हिन्दी कविता की यह एक बड़ी उपलब्धि है। इधर के वर्षों में कविता के शुद्ध पाठकों का अभाव होता गया है। समकालीन हिन्दी कविता में यह ऐसी कृति है जो पेशेवर पाठक की दुनिया से निकलकर गैरपेशेवर पाठक तक जाती है और उसे अपने प्रभाव-वृत्त में ले लेती है। मेरे वे प्रोफेसर मित्र उसके प्रभाव वृत्त में आने वाले ऐसे ही गैर-पेशेवर पाठक हैं जो कई दिनों तक उस कृति में जीते रहे। उस दिन अपनी बात समाप्त करते हुए मेरे मित्र ने कहा था कि कविता क्यों अच्छी लगी। इसका कोई बड़ा कारण मैं नहीं बता सकता। बस इतना ही कि अच्छी लगी। और अच्छी चीजों का कारण बताना कोई जरूरी नहीं।

मेरे लिए यह चौंकाने वाली घटना इसलिए है कि मेरे परिचितों में, मेरे हमउम्र या मुझसे बड़े साहित्य के अध्यापन, लेखन या पत्रकारिता से जुड़े जो लोग हैं, उनकी समकालीन कविता से प्राय: यह शिकायत रहती है कि आजकल की कविताएँ शिल्प गद्यधर्मी और जटिल हैं और पढ़ने का सुख कम देती हैं। मैं ऐसे मित्रों से प्राय: कहता हूँ कि आप सबकी काव्य-रूचि पन्त, प्रसाद, निराला, बच्चन, दिनकर, अज्ञेय आदि तक ठहरी हुई है। समकालीन कविता का आस्वाद लेने लायक अपने आपको आपने नहीं बनाया है। 'वाजश्रवा के बहाने' पढ़ने वाले और इसके प्रभाव की गिरफ्त में आने वाले मेरे वे प्रोफेसर मित्र भी ऐसे ही पाठक हैं। मैं 'वाजश्रवा के बहाने' पढ़ते हुए वह कारण खोज रहा हूँ जो समकालीन कविता से लगभग बिदके और विमुख होते हुए पाठक की कविता में वापसी और अभिभूत हो जाने का मुख्य आधार है।

मैं जानता हूँ कि किसी काव्यकृति की समीक्षा का यह कोई मान्य तरीका नहीं है। समीक्षा के रूढ़ शास्त्रीय अर्थ में यह समीक्षा नहीं है। रूढ़ शास्त्रीय अर्थ में 'वाजश्रवा के बहाने' खण्ड-काव्य भी नहीं है। हालाँकि

कुँवर जी ने खण्ड काव्य के ही रूप में रचा है और प्रकाशक ने इसे खण्ड काव्य कहकर ही प्रकाशित किया है। 'जयद्रथ वध', 'कुरूक्षेत्र' आदि की तरह का सर्गों में बँटा, कथा और आदर्शों के बाहुल्य से बोझिल खण्ड-काव्य यह नहीं है। यह नये ढंग की ऐसी रचना है जिसे खण्ड-काव्य के शास्त्रीय ढाँचे को तोड़े बिना उसके बगल में रचे गये अभिनव स्थापत्य का नाम दिया जा सकता है। शास्त्रीय ढाँचे में तोड़फोड़ मचाने की जगह उसे बगैर हिलाये बगल में चुपचाप कुछ नया, सुन्दर और मौलिक रच डालने के अहिंसक रचनात्मक कोशिश का, 'वाजश्रवा के बहाने' एक श्रेष्ठ उदाहरण है। इस कृति से सम्बन्धित अपने एक लिखित वक्तव्य में कुँवर नारायण ने कहीं ठीक ही कहा है : ''जॉयस के 'यूलिसिस' के महत्त्व को समझने के लिए होमर के 'यूलिसिस' की नींव खोदना जरूरी नहीं। दोनों का सह-अस्तित्व न केवल सम्भव है, बल्कि आवश्यक है। कुछ इस तरह भी देखा जा सकता है कि कालिदास का 'विक्रमोर्वशीय' ऋग्वेद की 'उर्वशी' का विस्तार है, या उससे भिन्न, उसका विध्वंस नहीं।'' मैं यहाँ यह कहना चाहता हूँ कि 'वाजश्रवा के बहाने' भी खण्ड-काव्य जैसे काव्य रूप का अधुनातन विस्तार है, उसके विध्वंस पर स्थापित किया गया रचनात्मक विजय केतु नहीं। इसी अर्थ में मैंने कहा कि यह नया रचने की अहिंसक रचनात्मक कोशिश है। खण्ड काव्य के पारम्परिक अर्थ से अलग होता हुआ, कथा की विरलता के बावजूद, इस काव्य कृति में गजब की लय और पठनीयता है। यह ऐसे अपूर्व आकर्षण से युक्त है जो पृष्ठ-दर-पृष्ठ नवीन होता जाता है। नये किस्म के काव्य बोध से रचित इस कृति में भाव, भाषा और शिल्प हर स्तर पर संगीत के मन्द स्वर का आकर्षण है। अपने उक्त वक्तव्य में कुँवर नारायण ने ठीक ही लिखा है :..''...कृति में एक धारा-का-सा प्रभाव नहीं है। कहीं यदि 'द्वीप समूहों' का-सा' नैचुरल फार्मेशन' है तो कहीं जलाशयों का-सा प्रदेश। कोई क्रम नहीं, केवल विभिन्नताओं और अभिन्नताओं का एक सानिध्य। अगर जीवन को (क्रमानुसार नहीं) व्यतिक्रमानुसार जिया और पढ़ा जा सकता है, तो एक काव्य रचना को क्यों नहीं। इसलिए कहा जा सकता है कि 'वाजश्रवा के बहाने' यदि खण्ड काव्य है भी तो 'व्यतिक्रमानुसार' रचा गया है। और उसे पढ़ते हुए मेरी यह समीक्षा भी समीक्षा के अर्थ में क्रमानुसार नहीं है।,

'आत्मजयी' जैसे खण्ड-काव्य की रचना के लगभग आधी सदी बाद कुँवर नारायण 'कठोपनिषद' के उसी कथा-प्रसंग यानी नचिकेता के मृत्यु को दिये जाने को पुनः नये सिरे से 'वाजश्रवा के बहाने' में देखते हैं। 'आत्मजयी' में नचिकेता यम यानी मृत्यु का साक्षात्कार करता है। प्रस्तुत कृति में वह पिता वाजश्रवा के पास लौटता है। मृत्यु के द्वार से लौटे पुत्र को पाकर पिता की वाणी के शुभ और सांद्र स्वर के उजास से लिखी गयी यह रचना उस कथा प्रसंग को जीवन का नया विस्तार देती है : ''पिता से गले मिलते/ आश्वस्त होता नचिकेता कि/ उनका संसार अभी जीवित है/ उसे अच्छे लगते वे घर/ जिनमें एक आँगन हो/ वे दीवारें अच्छी लगतीं/ जिन पर गुदे हों/ किसी बच्चे के तुतलाते हस्ताक्षर,/ यह अनुभूति अच्छी लगती/ कि 'माँ' केवल एक शब्द नहीं/ एक सम्पूर्ण भाषा है,/ अच्छा लगता/ बार-बार कहीं दूर से लौटना/ अपनों के पास।'' नचिकेता से अलग पिता की दूसरी अनुभूति है : ''अच्छा हुआ तुम लौट आये/ मेरे जीवन में,/ लेकिन जानता हूँ/ नहीं आ सकोगे/ चाहकर भी नहीं वापस मेरे युग मे!'' इसीलिए कि पुत्र के वर्तमान और पिता के अतीत के बीच चौड़ी होती खाई है। फिर भी वाजश्रवा कहता है : ''कभी मत भूलना कि मैं तुम्हारा पिता हूँ,/ तुम्हारा भविष्य नहीं-/ लेकिन तुम्हारा अतीत हूँ/ जिसे तुम कभी भी/ पूरी तरह अस्वीकार नहीं कर सकोगे।'' इस तरह अतीत और वर्तमान के बीच संवाद के जरिए भविष्य का आकाश सामने है : ''कल सुबह भी खिलेगा/ इसी सूरजमुखी खिड़की पर/ फूल-सा एक सूर्योदय/ फैलेगी घर में/ सुगन्ध-सी धूप/ चिड़ियों की चहचहाटें/ लाएँगी एक निमन्त्रण/ कि ''अब उठो आओ उड़ें/ बस एक उड़ान भर ही दूर है/ हमारे पंखों का आकाश/''

'वाजश्रवा के बहाने', जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, एक आधार भूमि भर है। मूल है वह बात जो कवि कहना चाहता है। वह मूल बात है, यदि कुँवर नारायण के ही शब्दों में कहे तो, 'जीवन का अपना सम्मोहन' जिससे रचनाकार बँधा है और जो 'मृत्यु' के सन्त्रास के बावजूद हमें जीने की शक्ति देता है।' जीवन और मृत्यु को नयी दृष्टि से देखने के गहरे आत्म मंथन के बाद कवि इसे उपलब्ध करता है। कवि के शब्दों में ''वाजश्रवा के बहाने'' जीवन के इसी प्रबल आकर्षण के स्पर्श की चेष्टा है। इस जिजीविषा के विभिन्न आयाम चाहे भौतिक हों या आत्मिक, चाहे बौद्धिक (दार्शनिक) हों या भावनात्मक, तत्वतः वे हैं जैविक ही।'' आगे रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा गया है : ''आत्मजयी में यदि मृत्यु की ओर से जीवन को देखा गया है, तो 'वाजश्रवा के बहाने' में जीवन की ओर से मृत्यु को देखने की एक कोशिश है।'' इस 'देखने' को कवि अधिक महत्त्व देता है : ''इस देखने' (पश्य) का विशेष महत्त्व है। अन्तत : दोनों एक-से ही 'निष्कर्ष-बिन्दु' पर पहुँचते से लगते हैं- कि जहाँ जीवन को लाँघकर, आकाश-मार्ग से, पहुँचा जा सकता है, वहीं शायद जीवन को जीते हुए, थल-मार्ग से भी।''

यह जीवन का प्रबल आकर्षण ही है कि मैं कई दिनों से प्रस्तुत रचना को पढ़ रहा हूँ और उसके सम्मोहन में बँधा हूँ। मेरे सामने यह प्रश्न है कि ऐसी कौन-सी बात है जो बार-बार मुझे इस कृति को पढ़ाये लिए जा रही है। इधर के वर्षों में मुझे कोई ऐसी काव्य-रचना याद नहीं, जो इस तरह बार-बार पढ़ने का आकर्षण पैदा करे। कभी 'कनुप्रिया' 'अन्धायुग', 'उर्वशी' आदि प्रबंधों का बार-बार पढ़ने का प्रबल आकर्षण था। लेकिन उसके कारण दूसरे थे। यहाँ न तो रूमानियत है, न पति और प्रेयसी के बीच का आकर्षण, आमन्त्रण और न युद्ध की विभीषिका की विराट् त्रासदी से उपजे प्रश्न। फिर भी मैं इसके प्रबल आकर्षण से बँधा हूँ और बार-बार पढ़े जा रहा हूँ तो इसका कारण इससे फूटता वह जीवन-राग ही है शायद, जो मुझे सम्मोहित किये हुए है। यह सम्मोहन 'अतियों' के नकार और जीवन को पूर्णता प्रदान करनेवाली कवि-दृष्टि का वह विस्तार है जो वैदिक काल से

लेकर वर्तमान तक सक्रिय है और भविष्य के शुभ्र शिखरों की ओर देखती है। इधर के वर्षों में रचना और आलोचना में 'संघर्ष' पर अधिक जोर रहा है। कवि के शब्दों में–'जीवन में संघर्ष भी है, पर संघर्ष-ही-संघर्ष नहीं है। इस तरह चित्रित करने से कि जीवन सतत संघर्षमय ही है उसकी जरूरत से ज्यादा क्रूर छवि उभरती है। उसमें मार्मिक समझौते और सुन्दर सुलहें भी है, इस विवेक को प्रमुख रखकर भी जीवन को सोचा और चित्रित किया जा सकता है। संघर्ष और हिंसा अतिवाद में है न कि विभिन्नताओं में। भौतिक और आत्मिक के बीच समझौता आसान है, लेकिन 'अति भौतिक' और 'अति आत्मिक' के बीच समझौता लगभग असम्भव। हिंसा की जड़ें इसी 'अति' में है।'' मुझे लगता है कि इस काव्य-कृति के लिए मेरे भीतर जो प्रबल आकर्षण है, वह इस अतिवादी समय में भौतिक और आत्मिक के बीच 'सुन्दर सुलहों' से पैदा हुआ जीवन-राग ही है, जिसे बार-बार देर तक सुना जा सकता है।

कभी राम मनोहर लोहिया ने कहा था कि इतिहास पुरुषों की तुलना में भारतीय मानस को किंवदंती पुरुष (मिथक) अधिक प्रभावित करते हैं। मिथक के साथ सुविधा यह है कि उसका पुनर्सृजन और पुनर्व्याख्या सम्भव है। लेकिन इसके साथ एक खतरा यह भी है कि ऐसा प्रयत्न करने वाली दृष्टि यदि सन्तुलित नहीं है तो उसकी परिणति भौतिक या आत्मिक अतिवाद में हो। कुँवर नारायण की कवि-दृष्टि 'वाजश्रवा के बहाने' में मिथक को पुनर्सृजित करते हुए इस तरह की 'अतियों' से न सिर्फ बचती है, बल्कि उनके पड़ोस में सन्तुलन का नया लोक भी रचती है जो भौतिक भी है और आत्मिक भी। इसमें वैदिक गूँजें और अनुगूँजें भरी पड़ी हैं। नचिकेता और वाजश्रवा स्वयं औपनिषदिक चरित्र हैं। लेकिन सब कुछ वर्तमान की जमीन पर घटित होता है और लगता नहीं कि अतीत और वर्तमान के बीच कोई हिंसक विवाद है। अतीत विस्तृत होता हुआ वर्तमान तक आता है और भविष्य की ओर जाता है। जिसे भारतीय प्राणधारा कहेंगे वह भौतिक और आत्मिक के इसी सम्यक सन्तुलन में है जिसे इधर के वर्षों में हिलाने की कोशिश तेज हुई है। 'वाजश्रवा के बहाने' के जरिए कुँवर नारायण उस सन्तुलन को मजबूत आधार देते हैं जो भारतीय चिन्तन की प्राणधारा है। वैदिक काल से लेकर वर्तमान तक आती और भविष्य की ओर देखती इस प्राणधारा को इतने सजग और प्राणवान ढंग से देखने के ऐसे प्रयत्न हिन्दी में बहुत कम हुए हैं। हजारों वर्षों की भारतीय काव्य-यात्रा में जीवन-दर्शन को चित्रित करने वाली जो भारतीय दृष्टि रही है, उसी का आधुनिक और नया

विस्तार है 'वाजश्रवा के बहाने' जिससे आधुनिक काल की सिर्फ एक काव्य-कृति तुलनीय है और वह है प्रसाद की 'कामायनी'।,

मैं अक्सर कहता हूँ कि कविता मनुष्य का प्रथम सेकुलर स्वप्न है। भारतीय कविता मनुष्य के उसी सेकुलर स्वप्न का सगुण-साकार रूप है। वैदिक ऋचाओं से लेकर कालिदास-भवभूति तक की रचनाएँ उसी स्वप्न के विस्तार हैं। इस विस्तार में वह दृष्टि सक्रिय रही है जो मनुष्यता के ऊँचे उठते शुभ्र शिखरों पर टिकी रही है। उसमें कहीं कोई साम्प्रदायिक-संकीर्ण सोच नहीं है। मिथक पर आधारित होने के बावजूद 'वाजश्रवा के बहाने' कविता में देखा गया कवि का सुन्दर सेकुलर स्वप्न ही है जो जीवन-राग के कारण सम्मोहित करता है। इसे पढ़ते हुए कवि को पढ़ने के साथ एक सुगम दार्शनिक को पढ़ने का सुख मिलता है, ऐसा दार्शनिक जिसका हृदय कवि का हो। ऐसा कभी-कभी ही होता है कि दर्शन और कविता आपस में मिल जाएँ और पाठक को पता नहीं चले कि वह कविता के साथ एक जीवन-दर्शन में प्रवेश कर चुका है। ऐसी ही कृति है 'वाजश्रवा के बहाने'।

'वाजश्रवा के बहाने' तक आकर हिन्दी कविता उस उच्चता को प्राप्त करती है, जहाँ प्रगतिशीलता और गैर-प्रगतिशीलता की रोज-रोज की व्यर्थ की 'फौजदारी' नहीं है। अपने को 'पूर्ण' मानने की हिंसक तानाशाही की जगह अपूर्णता में पूर्णता का दर्शन करनेवाली यह कवि-वाणी वैदिक मन्त्रों का प्रभाव और संगीत तो उत्पन्न करती ही है आधुनिक युग के झँझावतों के बीच नया जीवन-राग भी पैदा करती है :

अपूर्ण को ही मान लिया सम्पूर्ण।
पूर्णता के पीछे भागना-व्यर्थ है,
वह शून्य है,
उसे पाना
अपने को खो देना है
शून्यों के अपार गणित में।

कोई कह सकता है कि 'वाजश्रवा के बहाने' पढ़ते हुए मैं मोहाविष्ट हूँ और मोहावेश में किसी कृति की सन्तुलित समीक्षा नहीं लिखी जा सकती। मैं यहाँ कहना चाहता हूँ कि ऐसी कृति कभी-कभी ही लिखी जाती है जो पाठक को इस तरह मोहाविष्ट कर दे कि वह वही कहे जो कृति कह रही है। यह समीक्षक की कमजोरी नहीं, कृति की शक्ति है। मेरा खयाल है जो कोई इसे पढ़ेगा इसकी प्रबल आकर्षण शक्ति से मोहाविष्ट होगा ही। इसे पढ़कर आप भी कहेंगे कि आधुनिक हिन्दी कविता की महत्तम उपलब्धि है–यह कृति।

वाजश्रवा के बहाने/ कुँवर नारायण/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-3/ मूल्य 160 रु.

सी-17 (29-31) छात्रा मार्ग, दिल्ली वि.वि., दिल्ली-110007

पुस्तक के साथ आलोचक के रिश्ते का पहला अध्याय

नंदकिशोर नवल

नंदकिशोर नवल

पुस्तकों के साथ मेरा रिश्ता साधारण पाठकों के लिए कभी भी आतंकित कर देनेवाला नहीं रहा। जहाँ तक मुझे याद है, पढ़ना आ जाने के बाद मैं सर्वप्रथम एक विलक्षण पुस्तिका की तरफ आकर्षित हुआ था। गाँव का मिडिल स्कूल। मैं एक छोटे किसान परिवार से आनेवाले लड़का। मैंने सुन रखा था कि हनुमानचालीसा में इतनी शक्ति है कि उसका पाठ करने से वृक्ष की ऊँची डाल पर दिखलायी पड़नेवाला हनुमान उतरकर करीब आ जाता है। 1945 का साल रहा होगा। मैंने अपने सहपाठी शंकर के साथ, जो वर्ग में मेरे बाद दूसरा स्थान पाता था, यह योजना बनायी कि बिदुपुर स्टेशन पर हफ्ते में दो बार लगनेवाली हाट में चलकर हनुमानचालीसा खरीदा जाये। सात साल की उम्र। उस समय यह कल्पना नहीं की थी कि हनुमान ऊपर से नीचे आ गया, तो वह मेरा या शंकर का ही क्या हाल करेगा। गाँव के बगीचे में जब-तब कहीं से भटकता हुआ कोई हनुमान आ जाया करता था। उस समय गाँव-भर के लड़के उसके पीछे लग जाते थे। वह वृक्ष की एक डाल से दूसरी डाल पर फलाँगता रहता था और नीचे दौड़ते हुए लड़के हो-हो करते रहते थे। मैं और शंकर हनुमान- चालीसा के पाठ से हनुमान को अपने पास बुलाकर उस चमत्कार का भरपूर सुख लूटना चाहते थे। जब मैंने हुनमानचालीसा खरीद लिया तो उसे पढ़ते और याद करते हुए गाँव में हनुमान के आने का अधीरता से इन्तजार करने लगा। थोड़े ही दिनों बाद वह आया भी, मगर अफसोस कि मैं और शंकर हनुमानचालीसा को दुहाराकर उसे बुलाते रहे, पर उसने हमलोगों की तरफ देखा भी नहीं। कविता की चमत्कारी शक्ति से यह मेरा प्रथम मोहभंग था, जो ईश्वर-कृपा से पहली-पुस्तिका के साथ ही हो गया था। मैं पाठकों को यह भी बतला दूँ कि हनुमानचालीसा की उसी समय की रटी हुई कुछ पंक्तियाँ मुझे अभी तक याद है। आज जब मैं कुछ विद्वानों को भी अत्यधिक निष्ठा से उसका पाठ करते हुए देखता हूँ, तो मुझे अपने साथ घटी उक्त घटना याद आ जाती है। उसमें काव्यगुण नहीं है और वह तुलसी

कृत नहीं है, यह सब तो मैंने बाद में समझा-जाना।

दूसरे-तीसरे वर्गों की पुस्तक-सम्बन्धी एक-दो और बातें याद आ रही हैं। बचपन में सबसे ज्यादा कथा-कहानी की पुस्तकें खींचती हैं। मेरे एक सहपाठी रामगोविन्द के पास, जो पढ़ने में बहुत बोदा था, पता नहीं कहाँ से एक बहुत ही दिलचस्प पुस्तक आ गई थी- 'मूर्खराज की कहानी'। मैं चूँकि पढ़ने में सबसे आगे था, इसलिए सोचता था कि वह पुस्तक तो मेरे पास होनी चाहिए थी, लेकिन कम्बख्त थी रामगोविन्द के पास। उसको पढ़ने के लिए मेरे मुँह से जैसी लार टपकी, वैसी आज तक किसी महान् से महान् पुस्तक को पढ़ने के लिए भी नहीं टपकी है। मैंने रामगोविन्द की बहुत ही चिरौरी की, उसने पढ़ने के लिए वह पुस्तक मुझे दी भी, लेकिन तुरत ले भी ली, जिससे मुझे तृप्ति नहीं हुई और उसकी कचोट आज तक मन में है। वह पुस्तक ऐसी थी कि एक लड़का उसे पढ़ता रहता था, तो दूसरा पीछे से या बगल से झुककर उसे पढ़ने की कोशिश में लगा रहता था, वह हामिद के चिमटे की तरह थी, जिसे छूने के लिए भी लड़कों में एक होड़ लग गई थी। तीसरे वर्ग में मुझे दो बहुत ही दिलचस्प पुस्तकें पढ़ने को मिल गईं, जिनसे एक बड़ी हद तक मैंने तृप्ति-लाभ किया। वे थीं बच्चों के लिए लिखी गई रामवृक्ष बेनीपुरी की पुस्तकें-'बगुलाभगत' और 'सियारपाँड़े'। 'बगुला भगत' में आये हुए एक गीत की एक पंक्ति अभी तक मेरी स्मृति में टँकी है-'बगुलाभगत का भाँडा फूटा हो फूटा'। ये दोनों पुस्तकें बाल-साहित्य की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। आप कह सकते हैं कि उन्होंने ही साहित्यिक पुस्तकों की दुनिया में मेरा प्रवेश कराया।

इसी समय एक और पुस्तक से मेरा परिचय हुआ जिसका जिक्र करना भी जरूरी है। मेरे पिताजी, जो साक्षर-मात्र किसान थे, अक्सरहा पुरुष-स्त्री के झगड़े को लेकर 'किस्सा तोता-मैना' का जिक्र किया करते थे। मेरा ख्याल है कि उस पुस्तक को उन्होंने पढ़ा ही नहीं था, आत्मसात् किया था। स्वभावतः उनके पास किस्सों का जो भण्डार था, उसमें कुछ उक्त पुस्तक के किस्से भी रहे होंगे। मैं तीसरे-चौथे में पढ़ता था। पता नहीं कहाँ से उसकी एक प्रति मुझे हाथ लग गई। मैंने उसे पढ़ना शुरू किया तो तुरन्त मुझ पर स्पष्ट हो गया कि वह एक वर्जित पुस्तक है, क्योंकि उसमें काम-प्रधान कथायें थीं और यह मुहावरा बार-बार आता था कि 'उसे कामदेव सताने लगा।' मैं समझ नहीं सका कि पिताजी ने उस पुस्तक को पढ़ने के लिए मुझे क्यों प्रेरित किया था। उनका ध्यान वस्तुतः स्त्री-पुरुष की श्रेष्ठता और नीचता को लेकर होनेवाले विवाद पर था, जबकि मेरे बाल-मन पर उसका वही प्रभाव पड़ रहा था, जिसके लिए वह पुस्तक उन दिनों बदनाम थी। मेरे बड़े भाई ने जब मुझे छिपकर उसे पढ़ते हुए देखा तो मेरी पिटाई की और उसे पढ़ने से मना किया। लेकिन मेरी बड़ी बहन ने, जो बहुत सीधी-सादी थी, मुझसे पढ़वाकर उसके अनेक पृष्ठ सुने। मैंने आपत्ति वाली बात कही, तो उसने कहा कि 'इसको पढ़कर आदमी बात को अपने मन में रख लेता है, फिर इसे पढ़ने पर एतराज नहीं होना चाहिए!' मैं एक पुस्तक की इस विस्फोटक शक्ति को देखकर दंग था। वैसी पुस्तक, जिसको पढ़ना बहुत बड़ा जुर्म हो, फिर मुझे दूसरी नहीं मिली। कई वर्षों बाद मैं उसी बहन के यहाँ शाहपुर पटोरी रेलवे स्टेशन से उत्तर स्थित एक गाँव नायर गया, तो मेरे हाथ में प्रेमचन्द का उपन्यास 'प्रतिज्ञा' था। उसे देखकर मेरे बहनोई ने सिर्फ इतना कहा था कि 'बबुआ, आप उपन्यास पढ़ते हैं!' इससे यह अनुमान होता है कि उपन्यास के बारे में लोगों की धारणा उस समय तक भी अच्छी नहीं थी, पर उसका विरोध 'तोता-मैना'-जैसा नहीं था। 'प्रतिज्ञा' को तो नीरसता के कारण मैं न पढ़ सका था, पर उसी के आस-पास एक अन्य उपन्यास जरूर पढ़ा, जिसमें सरला नामक एक युवती की प्रेम-कथा थी। आज मुझे उसका नाम याद नहीं, पर उसकी सरसता की याद बनी हुई है।

पुस्तक-सम्बन्धी एक और घटना याद आती है। गाँव के एक सज्जन के दरवाजे पर चौकी पर दीवार की तरफ यों ही स्कूली बच्चों की पुस्तकें और कापियाँ पड़ी रहती थीं। उन्हीं में मुझे एक दिन एक पुस्तक मिल गई-'बालकों का यूरोप', जो मुझे बहुत दिलचस्प लगी। मैं उसे पढ़ने लगा, पर पुस्तक समाप्त नहीं हो रही थी, सो मैंने उसे अपने घर ले जाना चाहा। लेकिन दरवाजे पर कोई था नहीं, मैं उसके लिए अनुमति किससे प्राप्त करता। इच्छा हुई कि उसे लेकर चल दूँ, पर बच्चों की दादी कहीं से निकलीं तो लगा कि वे देख रही हैं। लिहाजा मैंने एक पुर्जी लिखी- ' 'बालकों का यूरोप' नन्दकिशोर ले गया है,' और उसे किसी तरह दीवार पर चिपका दिया, जिससे बच्चे आये तो उन्हें तुरत मालूम हो जाये। मैं शाम को वहाँ गया तो उक्त वाक्य को दुहराकर बच्चों ने मेरा स्वागत किया। कई दिनों बाद मैंने वह पुस्तक समाप्त कर उन्हें लौटाई।

मेरा गाँव बहुत-ही छोटा है, पर स्वाधीनता-आन्दोलन के साथ जागरण की जो चेतना फैली थी, उसके असर में उसमें अच्छे भवनवाला एक पुस्तकालय स्थापित हो गया था-'नवयुवक पुस्तकालय'। पुस्तकालय में दो-तीन हजार से ज्यादा पुस्तकें नहीं थीं, लेकिन वह उस इलाके का सबसे अच्छा पुस्तकालय माना जाता था। उसके पुस्तकाध्यक्ष रामसोहाग सिंह नामक कन्या पाठशाला के एक शिक्षक थे, जो पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते प्रबुद्ध साहित्यिक ही नहीं, प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति भी हो गये थे। मैं जब छठे वर्ग में पहुँचा, तो अपने बड़े भाई के आदेश से,

जो उस समय भागलपुर जिला स्कूल के छात्र थे, पुस्तकालय का सदस्य बन गया। पुस्तकाध्यक्ष मुझे एक अच्छा नागरिक बनाना चाहते थे, इसलिए मुझे महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़ने के लिए देने लगे। जो पहली पुस्तक उन्होंने मुझे दी थी, उसका नाम था–'तलवार की धार पर'। वह मुझे जरा भी अच्छी नहीं लगी और मैं उसे ही नहीं, वैसी दूसरी पुस्तकों को भी बिना पूरा पढ़े पुस्तकालय जाकर लौटाता रहा। एक दिन मैंने पुस्तकाध्यक्ष से कहा कि मैं अपने लिए पुस्तक खुद चुनता हूँ। पुस्तक-सूची से मैंने जो पुस्तक चुनी, वह एक कहानी की पुस्तक थी–'भैंसा-सिंह। जब मैंने उनसे वह पुस्तक माँगी, तो उन्होंने मुझे डाँट दिया और फिर मेरे हाथों में किसी महापुरुष की जीवनी पकड़ा दी। मैं बिना किसी से कुछ कहे उत्कटता से उस दिन का इन्तजार करने लगा, जब पुस्तकालय से अपनी मनपसन्द पुस्तकें प्राप्त करूँगा।

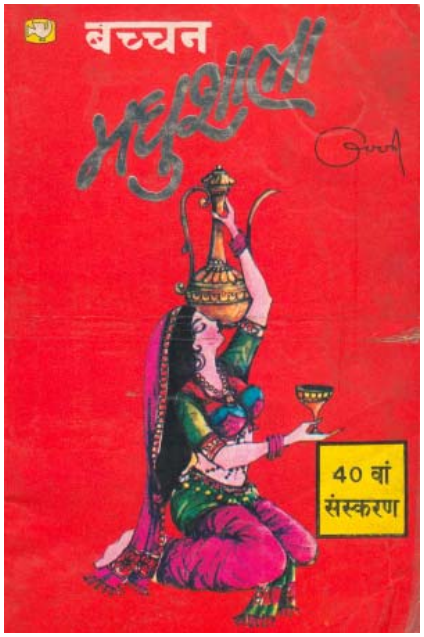

आखिरकार पुस्तकाध्यक्ष ने एक दिन मुझे एक ऐसी पुस्तक दी, जो न केवल मेरी मनपसन्द साबित हुई, बल्कि जिसने मेरे साहित्य-प्रेम को एक दिशा दे दी। यह पुस्तक थी बिहार के एक कवि कपिलदेव नारायण सिंह 'सुहृद' कृत खण्डकाव्य–'प्रेम-मिलन'। पुस्तकाध्यक्ष ने तो यह पुस्तक मुझे इसलिए दी थी कि इसमें देशभक्ति की एक त्यागपूर्ण कथा थी, लेकिन मेरे लिए यह काव्यानन्द का कोष साबित हुई। अब तक मैं कविता का छिटपुट आनन्द उठाता आ रहा था, यहाँ मुझे इकट्ठे आनन्द की राशि प्राप्त हुई। इसका कारण यह था कि इस काव्य की भाषा जितनी सरल थी, उतना ही सजीव इसका कथा-वर्णन और उतना ही तन्मयतापूर्ण इसका प्रवाह था। आज 'सुहृद' जी का कवि होना ही सन्दिग्ध माना जाता है, पर मुझ बालक को दिनकर की शैली में रचे गये इस काव्य ने इतना विभोर किया था कि मैं कविता के लिए पागल रहने लगा। उस दिन सर पर कविता का जो नशा सवार हुआ, परिपक्वता आने के साथ-साथ उसका उफान भले कम हो गया हो, वह निरंतर प्रगाढ़ होता जा रहा है। आज भी जिस दिन मुझे एक अच्छी कविता पढ़ने को मिल जाती है, मैं दिन-भर प्रसन्न रहता हूँ और लगता है कि यह दिन सार्थक हुआ। 'प्रेम-मिलन' ने मुझे कथा-कहानी से मोड़कर कविता की ओर उन्मुख कर दिया। मेरे एक मित्र कहते हैं कि साहित्य की और विधाओं का रस जहाँ छिलके, गूदे और गुठली के साथ है, वहाँ कविता का रस खालिस रस है! मेरे अनुभव ने इसे सही पाया है। उक्त काव्य मुझे उसके कवि तक ले गया, जिसकी एक अलग कहानी है। इसी के आस-पास एक और काव्य मेरे हाथ लगा था–श्याम नारायण पाण्डेय कृत 'हल्दीघाटी'। इस काव्य ने भी मुझे प्रचुर आनन्द दिया था। अपनी सरल भाषा और ओजपूर्ण वर्णन के प्रवाह में मुझे बहा ले गया था, लेकिन 'प्रेम-मिलन' तो मेरी आत्मा में धँस गया था।

यह 1950-51 की बात है, जब मैं स्वयं कविता लिखने लगा और तीन अन्य कविता-पुस्तकें मेरी प्रिय हो गईं–श्यामनन्दन किशोर की 'शेफलिका', उपेन्द्रनाथ अश्क का 'प्रातप्रदीप' और बच्चन का 'निशा-निमन्त्रण'। 'शेफालिका' प्रेमगीतों का संग्रह था, जिसने मुझे बहुत दिनों तक रमाये रखा। जैसे 'प्रेम-मिलन' की अनेक पंक्तियाँ मुझे अभी तक याद हैं, वैसे ही 'शेफलिका' की भी। बाकी दोनों पुस्तकें भी गीत-संग्रह ही हैं। इस दृष्टि से उनमें समानता है कि दोनों ही पुस्तकों की रचना उनके कवियों ने अपनी पत्नी की मृत्यु के शोक में की थी। 'निशा-निमन्त्रण' के गीत एक ही साँचे में ढले हुए हैं, पर उनमें गजब की सरलता और निश्छलता है। ये बातें 'प्रातप्रदीप' में भी हैं, पर कह नहीं सकता कि क्यों पहली पुस्तक जहाँ हिन्दी में अत्यधिक लोकप्रिय हुई, दूसरी मुझ-जैसे पाठकों तक ही सीमित रह गई। मैंने 'निशा-निमन्त्रण' के अनुकरण पर अनेक गीत लिखे थे, जिन्हें देखकर एक प्रबुद्ध साहित्यिक जन ने कहा था कि इस लड़के पर बच्चन का नशा सवार है! यहीं पर मैं एक दिलचस्प वाकए का जिक्र कर दूँ। बगल के हाई स्कूल में तुलसी-जयन्ती का आयोजन किया गया था। मैं मिडिल का विद्यार्थी था, लेकिन कवि हो चला था, इसलिए मुझे विधिवत् उस आयोजन में शामिल होने के लिए आमन्त्रित किया गया। मैंने उसमें तुलसीदास पर एक कविता पढ़ी, जिसे सुनकर उस स्कूल के उप-प्रधानाध्यापक ने मुझे आर्शीवाद दिया–'भगवान् करें, आप इस युग के तुलसी हों!' आज मुझे यह आशीर्वाद आवश्यकता से बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा लगता है, बल्कि मर्यादा का उल्लंघन तक, लेकिन उस समय मुझे उससे कोई खुशी नहीं हुई थी। दरअसल मैं उनके मुँह से यह सुनना चाहता था कि 'आप इस युग के बच्चन हों!' उस समय मुझे यह कहाँ पता था कि तुलसी स्वयं बच्चन के भी आदर्श थे।

कविता-पुस्तकों के प्रति मेरा प्रेम दिन-दिन उन्नत होता गया और अगली खेप में जो पुस्तकें मेरी प्रिय हुईं, वे हैं बच्चन की 'मिलनयामिनी', दिनकर की 'रश्मिरथी', पन्त की 'वीणा' और 'पल्लव' तथा महादेवी की 'यामा'। 'रश्मिरथी' कुछ बाद में निकली थी। 'वीणा' और 'पल्लव' मैं उसके पहले ही पटने से खरीद ले गया था। साथ में बच्चन का 'एकान्त संगीत' भी। 'वीणा' और 'पल्लव' की कविताओं ने मुझे रमाया नहीं, लेकिन कविता के एक नए संगीत से परिचित कराया। 'एकान्त संगीत' एक तरह से 'निशा-निमन्त्रण' का ही दूसरा भाग था, लेकिन यह भी मुझे उसकी तरह नहीं बाँध सका। बाँधा मुझे 'मिलनयामिनी' ने, जिसमें बच्चन के तीन शैलियों में रचे हुए गीत संकलित थे। उनमें भी तीसरी शैली के गीत मुझे सबसे ज्यादा अच्छे लगे, क्योंकि उनमें अपेक्षाकृत दीर्घ आकारवाले छन्द और गद्यात्मक भाषा का बहुत ही सधा हुआ प्रयोग किया गया था। यह पुस्तक मैंने 1951 में दिसम्बर के अन्तिम दिनों या 1952 की जनवरी के शुरू में कलकत्ते में खरीदी थी। वहीं मैंने 'यामा' भी खरीदी थी और उसे ट्राम में पढ़ते हुए डेरे लौटा था। 'यामा' के गीतों में एक तरह का सम्मोहन तो था, लेकिन सबकुछ धुँधला-

धुँधला भी था। दूसरी तरफ बच्चन और दिनकर में सबकुछ साफ था, जैसी चाँदनी में नहीं, सुबह की रोशनी में चमकता हुआ। स्वभावतः इनकी पुस्तकें मेरे मन के अधिक निकट थीं।

इसी समय बिहार के तीन और कवियों से मेरा परिचय हुआ। वे थे रामगोपाल शर्मा 'रुद्र', रामइकबाल सिंह 'राकेश' और रामजीवन शर्मा 'जीवन'। 'रुद्र' जी गीतकार थे और इतने बड़े शब्द-साधक कि आज भी उनके गीत मुझे मुग्ध करते हैं। उनका पहला संग्रह 'शिंजिनी' मेरे लिए मारक प्रभाववाला सिद्ध हुआ था। वह प्रभाव ऐसा था कि मेरी काव्य-रुचि अगले चार-पाँच वर्षों तक उनके गीतों की धुरी पर ही चक्कर काटती रही। 1950-51 में ही 'रुद्र' जी से परिचय हुआ और मैं पटना आने लगा तो उन्होंने मुझे अपना खण्डकाव्य दिया-'द्रोण', जो बहुत दिनों तक मेरी प्रिय पुस्तक रही। 'राकेश' जी ग्राम-कवि थे। उनका दूसरा कविता-संग्रह 'गाण्डीव' मैंने कलकत्ते से मँगवाया था। वे 'रुद्र' जी से एकदम भिन्न किस्म के कवि थे, लेकिन अतिशय प्रचण्ड। गाँव का होने के कारण वे भी मुझे बहुत पसन्द थे। 'जीवन' जी हास्य-रस के कवि थे, जिनके प्रथम कविता-संग्रह 'अट्टहास' ने त्रिलोचन को भी आकर्षित किया था। मैं 'अट्टहास' की कविताएँ खूब पढ़ा करता था, क्योंकि उनमें हास्य ही नहीं, व्यंग्य भी था। कविताओं की भाषा और छन्द बहुत ही निर्दोष, जिस कारण 'जीवन' जी हिन्दी के हास्य-रस के दूसरे कवियों से मुझे भिन्न लगे थे। इन कवियों से मेरे लगाव की गहराई का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि बाद में मैंने इन तीनों के काव्य-समग्र का सम्पादन किया और हिन्दीवालों के लिए उन्हें सुलभ बनाने की भरसक चेष्टा की। बच्चन और दिनकर की शेष कविता पुस्तकें भी मैं ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ता रहा, लेकिन बच्चन का नशा जहाँ कम होता गया, वहाँ दिनकर-काव्य से मेरा सम्बन्ध गहनतर होता गया। बच्चन की 'मधुबाला' और 'सतरंगिनी' थोड़े दिनों बाद मैंने डाक से मँगवाई, पर उनकी कविताओं में 'निशा-निमन्त्रण' या 'मिलनयामिनी' वाली बात नहीं थी। दिलचस्प है कि बच्चन की सर्वश्रेष्ठ कविता पुस्तक 'मधुशाला' मैंने बहुत बाद में पढ़ी। उसने भी मुझे नहीं खींचा। मैंने 'रेणुका', 'हुँकार', 'सामधेनी', 'रसवन्ती', 'कुरुक्षेत्र', 'धूपछाँह', 'बापू' 'धूप और धुआँ' तथा 'नीलकुसुम' के साथ दिनकर के काव्य के विभिन्न स्तरों को समझा और लम्बे अर्से तक उसकी ओज, मस्ती और सुन्दरता से भरी हुई दुनिया में विचरण करता रहा। उनके साथ बिहार के कुछ अन्य कवियों की कविता-पुस्तकें भी मुझे प्रिय थीं, यथा 'वियोगी' जी का 'आर्यावर्त', मनोरंजन बाबू का 'गुनगुन', नेपाली की 'नीलिमा' और 'पंचमी', आरसी प्रसाद सिंह का 'कलापी' और 'नन्ददास', कलक्टर सिंह 'केसरी' की 'मराली' तथा हंसकुमार तिवारी का 'अनागत'। जानकी वल्लभ शास्त्री का 'मेघगीत' भी मुझे अपने संगीत के कारण अच्छा लगा था और उनकी 'अवन्तिका' मैंने कवि को लिखकर ही वी. पी.पी. से मँगवाई थी। पैकेट पर अपना लेटरपैड साटकर उस पर शास्त्रीजी ने अपने हाथ से मेरा पता लिखा था। उनकी हस्तलिपि का उन दिनों मेरे लिए बहुत महत्त्व था, सो उसे कुछ दिन तक मैं जुगाकर रखे रहा। एक तो उनकी हस्तलिपि और दूसरे, उसमें लिखा गया मेरा नाम और पता! उनकी 'शिप्रा' मैंने बाद में पढ़ी। उसकी कविताएँ सरलता के कारण अच्छी लगी थीं। उनके आरम्भिक संग्रह 'तीर-तरंग', 'रूप-अरूप' और 'गाथा' मैंने 'रुद्र' जी के पुस्तकालय से लेकर पढ़े।

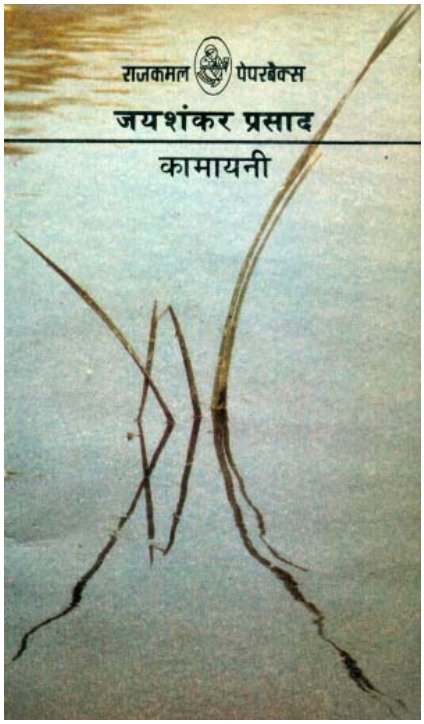

इसी तरह नेपाली, आरसी बाबू, 'केसरी' जी और तिवारीजी के कई अन्य संग्रह भी ढूँढ़-ढूँढ़कर मैंने पढ़ डाले। नेपाली की 'रागिनी' और 'पंछी' मुझे बगल के एक गाँव के पुस्तकालय में मिल गये थे और उनका 'नवीन' मैंने पुस्तक-भण्डार से लिखकर मँगवाया था। आरसी बाबू की 'नई दिशा' मुझे अपने हाई स्कूल के पुस्तकालय में मिली। उनका समग्र 'आरसी' मेरे गाँव के पुस्तकालय में सुलभ था, पर उसका आकार-प्रकार इतना आतंककारी था कि उसे देखा जा सकता था, पढ़ा नहीं। 'केसरी' जी का 'कदम्ब' और 'आम-महुआ' मुझे देर से मिले, पर तिवारीजी की 'रिमझिम' मुझे 'रुद्र' जी की अलमारी में मिल गयी थी। तिवारीजी का एक रेडियो-रूपकों का संग्रह भी तभी पढ़ा था, जो बहुत अच्छा लगा था। ब्रजकिशोर 'नारायण' के 'सिंहनाद' और 'नारायणी' की भी याद आ रही है। रेवती रमण का कविता-संग्रह 'अन्तरा' मैं हाजीपुर से खरीद ले गया था, पर वह मुझे अच्छा नहीं लगा था। उसकी कविताओं और गीतों में कोई अर्थगत संगति न थी। उसके पहले मैं उनका संग्रह 'मास्को' पढ़ चुका था, जो प्रगतिशीलता के फैशन की देन था। अब तक श्यामनन्दन किशोर का दूसरा गीत-संग्रह 'विभावरी' भी आ गया था। उसके साथ राजेन्द्र प्रसाद सिंह का पहला कविता-संग्रह 'भूमिका' भी मैंने भारती भण्डार, इलाहाबाद से लिखकर मँगवाया था। 'विभावरी' 'शेफालिका' के आगे फीकी थी और 'भूमिका' में भी कोई खास दम नहीं था। ऐसा लगने का कारण मेरे काव्य-बोध का परिपक्व होते जाना भी रहा होगा। सरयू सिंह 'सुन्दर' के छोटे-छोटे दो-तीन कविता-संग्रह भी मैंने पढ़े थे। ये संग्रह मैंने हाजीपुर डाकबँगला के एक कक्ष से चुराये थे, जिसमें उसके बण्डल रखे हुए थे। यह तब की बात है, जब 1952-53 में वे किरण-मण्डल के एक कवि-सम्मेलन में हाजीपुर आये थे और अन्य कवियों के साथ डाकबँगले में टिकाये गये थे। बिहार के एक युवा कवि भागवत प्रसाद सिंह भी थे, जिनका खण्डकाव्य 'मिट्टी का देवता' भी मैंने पढ़ा। यह दिनकर के तर्ज पर जयप्रकाश पर लिखा गया काव्य था। वैसी ही ओजस्विता से युक्त। यहाँ वरिष्ठ कवि केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की पुस्तकों का जिक्र करना भी जरूरी है। उनका काव्य 'कैकेयी' तो मुझे किसी हद तक अच्छा लगा था, पर 'श्वेत-नील', 'चिरस्पर्श' आदि उनके गीत-

संग्रह नहीं भाये। इसी तरह उनका नाट्य-काव्य 'संवर्त' भी डाक से मँगाकर पढ़ गया, पर उसमें मन न रमा। आगे के वर्षों में उनकी 'ऋतंवरा' निकली, तो उसे बहुत चाव से पढ़ा, पर मन पर कोई प्रभाव न पड़ा। यही हाल रामदयाल पाण्डेय के 'गणदेवता' और 'अशोक' का भी था।

प्रसाद की ये कविता-पुस्तकें भी मैंने इसी समय पढ़ीं-'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी'। 'आँसू' के कुछ छन्द तो मुझे अच्छे लगे, लेकिन बाकी दोनों पुस्तकों में मैं अपनी पैठ न बना सका। 1951-52 में मैं निराला की 'गीतिका' पढ़ते हुए कलकत्ता गया था। वह पुस्तक भी मैंने डाक से मँगवाई थी, सो मेरे पास थी। 'परिमल' की कविताएँ भी पढ़ी थीं। दोनों ही पुस्तकों में जहाँ-तहाँ कुछ पंक्तियाँ अवश्य पसन्द आईं, पर जैसे प्रसाद मेरे लिए अगम्य साबित हुए थे, निराला भी। ऐसी स्थिति में इन महाकवियों की पुस्तकों से आत्मीयता स्थापित करने की बात बहुत दूर की चीज थी। उनकी तुलना में मुझे पन्त भाने लगे थे। मैंने पटने के एक पुस्तक-विक्रेता को लिखकर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मँगवा ली और थोड़े मन से विशेष रूप से 'ग्राम्या' का पारायण कर गया। मैंने माखनलाल, सुभद्राकुमारी और केशव प्रसाद पाठक का कविता-संकलन 'त्रिधारा' भी प्राप्त कर लिया था, लेकिन माखनलाल को सराहने की क्षमता उस समय मुझमें नहीं थी। 'कैदी और कोकिला' शीर्षक उनकी प्रसिद्ध कविता मैंने बहुत ध्यान से पढ़ी, पर उस समय उसकी विलक्षणता बिलकुल नहीं समझ सका। तभी किसी से मुझे कुछ बाद के कवि 'अंचल' का संग्रह 'मधूलिका' भी मिल गया था, जिसकी कविताएँ भी अच्छी लगी थीं। 'नई धारा' में शुरू के दिनों में प्रत्येक अंक में उनकी एक कविता रहा करती थी। उनके अनेक गीतों का मुखड़ा मुझे वहीं से अभी तक याद है।

प्रसाद और निराला की तुलना में मैथिलीशरण गुप्त की पुस्तकें रुचिकर लगीं। मिडिल स्कूल के मेरे एक अध्यापक ने हिन्दी निबन्ध की मेरी कापी पर 'पंचवटी' की चार पंक्तियाँ लिख दी थीं। वे मुझे इतनी अच्छी लगी थी कि मैंने पुस्तकालय से पुस्तक लेकर पढ़ी। उसके बाद 'जयद्रथ-वध' पढ़ा, तो उसके कथा-वर्णन और ओजस्विता ने सच्चे अर्थों में मन को उद्दीप्त कर दिया था। मेरे गाँव के युवकों में 'यशोधरा' बहुत लोकप्रिय थी। मेरे बड़े भाई ने उद्धरणों की एक मोटी कापी बना रखी थी। उसमें उन्होंने 'यशोधरा' के अनेक प्रगीत-मुक्तक उतार रखे थे। वे मुझे बहुत अच्छे लगते थे, सो मैंने भी 'यशोधरा' पढ़ी। 'भारत-भारती' मुझे कुछ देर से हाथ लगी। उसमें हरिगीतिका छन्द की सुगमता देखते ही बनती है। उसकी अनेक कविताएँ बहुत अच्छी लगीं, पर मजेदार बात यह है कि अन्य छात्रों की तरह मैं उसे तब पलटा करता था, जब स्कूल की वाग्वर्धिनी समिति में किसी विषय पर बोलने के लिए कविता के उद्धरणों की जरूरत होती थी। इस दृष्टि से इस पुस्तक ने शायद ही कभी निराश किया हो। नवयुवक पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष रामसोहाग सिंह, जिनका जिक्र हो चुका है, 'साकेत' के भारी प्रशंसक थे और उसे एक कठिन काव्य मानते थे। मैं उसके निकट जरा देर से पहुँचा और किशोरोचित उत्साह में बिना किसी अवरोध का अनुभव किये हुए उसे पार भी कर गया, लेकिन वहाँ टिकना मुश्किल था, सो तुरत उत्तर-छायावादी गीतों की अपनी सुपरिचित रूमानी दुनिया में वापस आ गया।

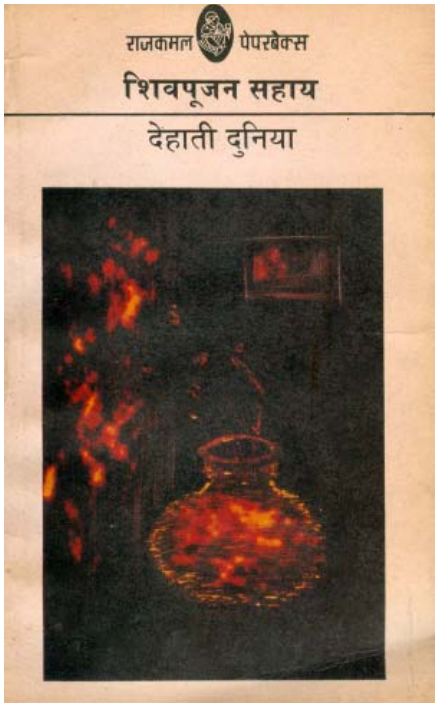

तभी मैंने रामचरितमानस को भी पढ़ने की कोशिश की, पर तुलसीदास की अवधी ठीक-ठीक समझ में नहीं आती थी और गायघाट बनारस सिटी वाले उसके संस्करण की टीका से उसे समझने की कोशिश करता था, तो मानस का काव्यत्व दूर-दूर तक दिखलायी नहीं पड़ता था। मैं समझ नहीं पाता था कि उसका इतना नाम क्यों है और तुलसीदास को लोग महाकवि क्यों कहते हैं! यह संस्करण बहुत मोटा था, क्योंकि इसमें लव-कुश काण्ड भी था और यह मोटे अक्षरों में भी छपा था। हारकर मैं उसे रेहल के साथ इकरंगे में बाँधकर घर के सन्दूक में रख देता था। यह जरूर है कि मानस के बालकाण्ड से शिव-पार्वती की कथा लेकर मैंने पाँच सर्गों में 'शर्वाणी' नामक एक प्रतीकात्मक खण्डकाव्य लिखा, जिसके बारे में मेरा विश्वास था कि वह 'कामायनी' से आगे की चीज है। हिन्दी संसार को यह बतलाने के लिए मैंने उस पर एक लेख भी लिखा, लेकिन एक छात्रोपयोगी पत्रिका में उसे प्रकाशनार्थ भेजना चाहकर भी न भेज सका। कारण यह कि पटने से निकलनेवाली उस पत्रिका का सम्पादन एक ऐसे कवि करते थे, जिनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय था। मैंने सोचा कि उन्हें लेख मिलेगा तो वे सोचेंगे कि जो पुस्तक अभी प्रकाशित नहीं हुई, उस पर इतना मूर्खतापूर्ण लेख इसके रचयिता के अलावा और कौन लिख सकता है? राज खुलने के डर से ही मैंने वह लेख, छद्मनाम से, उन्हें नहीं भेजा। अफसोस कि 'शर्वाणी' की पाण्डुलिपि मेरे पास से गायब हो गयी, वर्ना आज यह काव्य मेरे और मेरे नजदीकी साहित्यिकों के लिए 'सुखद हास रस' होता।

ऊपर मैंने कहा है कि कविता ने मुझे कथा-कहानी की तरफ से विमुख कर दिया, लेकिन यह बात पूरी तरह से सही नहीं है। कारण यह कि मैं प्रेमचन्द और दूसरे लेखकों की कहानियाँ पढ़ता रहा। प्रेमचन्द के एक संग्रह की याद है-'प्रेमद्वादशी'। उसकी कहानियाँ बहुत अच्छी लगी थीं। लेकिन एक शाम पुस्तकालय में ढूँढ़कर गुलेरीजी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' पढ़ी, तो यह न समझ सका कि उसका इतना नाम क्यों है। वाचस्पति पाठक-सम्पादित 'इक्कीस कहानियाँ' और विनोदशंकर व्यास-सम्पादित 'मधुकरी' भी उन्हीं दिनों पढ़ी थी, साथ ही चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का 'नन्दन-निकुंज' भी, जिसकी अलंकृत भाषा का पुस्तकालय के युवा पाठकों में बड़ा शोर था। पुस्तकालय में जैनेन्द्रजी का कहानी-संग्रह 'एक रात' भी था, जो एक कठिन पुस्तक मानी जाती थी। थोड़ा-बहुत आतंक 'वियोगी' जी के कहानी-संग्रह 'रजकण'

का भी था। यशपाल का कहानी-संग्रह 'पिंजड़े की उड़ान' भी तभी पढ़ा था, जिसकी एक-दो कहानियों की छाप अभी तक मस्तिष्क पर है। तत्पश्चात् 'फूलों का कुर्ता' भी। उसके साथ भी वही बात है। जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' का कहानी-संग्रह 'किसलय' बहुत लोकप्रिय था। उसके साथ मैंने उनके बृहत् कहानी-संग्रह 'मालिका' की कहानियाँ भी पढ़ी। जानकीवल्लभ शास्त्री का कहानी-संग्रह 'कानन' भी। प्रेमचन्द का 'गोदान' भी मिडिल स्कूल के दिनों में ही पढ़ा था। इतना याद है कि उसमें ग्राम-कथा के बाद जब शहरी कथा आती थी, तो मन चाहता था कि वह जल्दी समाप्त हो और ग्राम-कथा फिर शुरू हो। 'गोदान' के ही आगे-पीछे मैंने प्रेमचन्द का उपन्यास 'निर्मला' भी पढ़ा, जिसके बारे में प्रसिद्ध था कि वह अवधनारायण के उपन्यास 'विमाता' के जवाब में लिखा गया है। 'विमाता' मुझे बहुत कारुणिक उपन्यास लगा था। नलिनजी ने बहुत आगे जाकर उसे हिन्दी के दस सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गिनाया है! भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' की भी याद है, जिसे पढ़कर तभी मैंने ठीक-ठीक यानी औरों से भिन्न रूप में समझा था और अपनी डायरी में उस पर विस्तृत समीक्षात्मक टिप्पणी भी दर्ज की थी। एक छोटा उपन्यास व्यासजी का भी पढ़ा था-'अशान्त'।

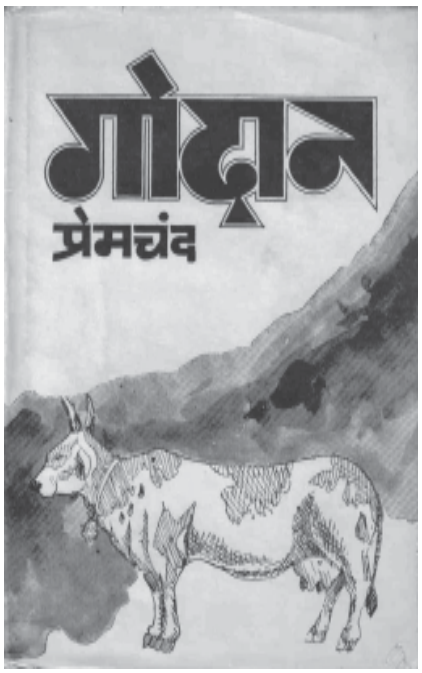

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, शिवपूजन सहाय और रामवृक्ष बेनीपुरी मेरे प्रिय गद्य-लेखक थे। राजासाहब का उपन्यास 'सूरदास' और कहानी-संग्रह 'गाँधी टोपी' भी उसी दौर में पढ़ा था। उनका आकर्षण उनकी उर्दू-मिश्रित शैली थी, जिसमें तुकबन्दी का भी मजा था। शिवपूजन बाबू के उपन्यास 'देहाती दुनिया' और कहानी-संग्रह 'विभूति' को भुलाना कठिन है। उनका गद्य अलंकृत होता था, जो किसी हद तक कविता के प्रेमियों के लिए भी तुष्टिकारक था। बेनीपुरीजी की आँचलिकता और मस्ती युवकों पर मदनानन्दमोदक की तरह असर करती थी। उनके गद्य का आकर्षण किसी तरह कविता से कम न था, सो मैं बहुत दिनों तक उनका दीवाना रहा। और उनकी पुस्तकों-'माटी की मूरतें', 'पतितों के देश में', 'लालतारा', 'कैदी की पत्नी' और 'गेहूँ और गुलाब'-को अपने मन और परिवेश के सबसे करीब पाता रहा। उनके नाटक भी पढ़े-'अम्बपाली', 'तथागत', 'नेत्रदान' और 'सीता की माँ'। 'अम्बपाली' को काफी कुछ मैं छन्दोबद्ध कर गया था और 'तथागत' को गाँव में खेलने के लिए संक्षिप्त किया था। 'नेत्रदान' मैट्रिकुलेशन के पाठ्यक्रम में था। उस पर मैंने एक आलोचनात्मक लेख लिखा था, जिसके द्वारा उसके सम्बन्ध में अध्यापकों और छात्रों की समझ को दुरुस्त करने का प्रयास किया गया था। 'सीता की माँ' स्वोक्ति-रूपक था। उसके माध्यम से मैं इस नये नाट्य-रूप से परिचित हुआ था। बेनीपुरीजी का यात्रा-वर्णन 'पैरों में पंख बाँधकर' खरीदने के लिए मैं पटने गया था और उसे लेकर लौटते ही उस पर टूट पड़ा था। प्रेमचन्द के उपन्यास 'प्रतिज्ञा' की तरह ही मेरी अधूरी पढ़ी गयी पुस्तकों में से एक राहुलजी की 'बाईसवीं सदी' भी थी। 1955 में मेरा परिचय नागार्जुन से हुआ, जिसके बाद मैंने उनके सारे उपन्यास डाक से मँगाकर पढ़े। इसने मेरे सामने ताजगी से भरे हुए गद्य की एक नयी दुनिया उद्घाटित कर दी, जिसमें मेरा प्रवेश आगे के वर्षों में हुआ। इस समय मैंने उनके जो उपन्यास पढ़े, वे थे 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'नयी पौध' और 'बाबा बटेसरनाथ'।

मेरे मिडिल स्कूल के दिनों में सम्भवत: देवनारायण द्विवेदी नामक बनारस के एक लेखक का 'दहेज' नामक उपन्यास बहुत लोकप्रिय था। उसे मैं रुचिपूर्वक पढ़ गया था और उसके अन्त से, जिसमें लड़की फाँसी लगाकर मर जाती है, बहुत आहत हुआ था। उस समय मेरे गाँव के युवा पाठकों में कुशवाहा 'कान्त' के उपन्यासों का बहुत जोर था। उनके पाठक उन्हें प्यार और आदर से 'कान्त' कहते थे। मैंने उनका उपन्यास 'जलन' पढ़ने की कोशिश की, पुस्तकाध्यक्ष की आँखों से बचकर, पर उसे पढ़ नहीं सका। कुशवाहा 'कान्त' का एक ही उपन्यास मैंने बहुत चाव से पढ़ा था-'लालरेखा'। पहली बार अकेले और दूसरी बार यों कि गाँव के एक अन्य सज्जन को बैठकर उसे पूरा सुना गया। बीच में एक बार सिर्फ खाने के लिए उठा था। यह बात और है कि कुशवाहा 'कान्त' की हत्या से द्रवित होकर, सम्भवत: 'लालरेखा' पढ़ने के पहले ही, मैंने उन पर एक कविता लिखी थी! जासूसी उपन्यास उस दौर में मैं एक ही पढ़ सका। पढ़ना शुरू किया तो ढिबरी जलाकर उसे समाप्त करके ही गाँव में निकला, जो रोज का मेरा नियम था। दूसरा जासूसी उपन्यास जसीडीह-प्रवास में सातवें दशक में तब पढ़ा, जब पास कोई पाठ्य-सामग्री न थी। यह उपन्यास बहुत नकली था, जिसे मैंने मुश्किल से समाप्त किया था।

जहाँ तक आलोचना की बात है, शुरुआती दौर में मैंने सिर्फ एक पुस्तक बहुत ही मन से और बार-बार पढ़ी थी। वह पुस्तक थी दिनकर के लेखों का संग्रह 'अर्धनारीश्वर', जिसे भी मैंने कलकत्ते से ही मँगवाया था। वहीं से मैंने बनारसीदास चतुर्वेदी की दो पुस्तकें भी मँगवाईं-'संस्मरण' और 'मेरे आराध्य'। इसी समय मैंने मुजफ्फरपुर के लंगटसिंह कॉलेज के अध्यापक कामेश्वर शर्मा की आलोचना की पुस्तक 'दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि' भी हाई स्कूल से पैदल घर लौटते हुए पढ़ी, जो दिनकरजी पर लिखी गई थी और जिसमें निन्दा से अधिक उनकी स्तुति थी। उसको पढ़ने के बाद मुझ पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहा था कि वह आलोचना की एक निम्नस्तरीय पुस्तक है।

यहाँ पुस्तकों के साथ मेरे रिश्ते का पहला अध्याय समाप्त होता है।

संपर्क : घाघा घाट रोड, पो. महेन्द्रू, पटना-800006 (बिहार)

संवेदना, संबंधों और सामूहिकता का विध्वंस

गीता शर्मा

प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के बाद कथा-साहित्य की दोनों विधाओं-कहानी और उपन्यास में एक स्पष्ट विभाजन नजर आता है। ये दोनों कथाकार जितने बड़े उपन्यासकार थे, कहानीकार उससे घटकर नहीं थे। लगभग यही बात कमोबेश अमृतलाल नागर, यशपाल और भगवती चरण वर्मा के बारे में भी कही जा सकती है। हालाँकि इन तीनों का जो महत्त्व उपन्यासकार के रूप में स्थापित हुआ, वैसा कहानीकार के रूप में नहीं। यशपाल की तुलना में शेष दोनों ने कहानियाँ बड़ी संख्या में लिखी भी नहीं। स्वान्तत्र्योत्तर युग में भी रेणु, भीष्म साहनी, मन्नू भण्डारी और कृष्णा सोबती को छोड़कर और किसी कथाकार को दोनों विधाओं में समान सफलता नहीं मिली। यद्यपि उपन्यास मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर से लेकर शिवप्रसाद सिंह, निर्मल वर्मा और अमरकान्त तक ने लिखे।

प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के बाद भीष्म साहनी शायद अकेले ऐसे कथाकार हैं जिनकी बेमिसाल उपलब्धियाँ और असंदिग्ध महत्ता दोनों विधाओं में समान रूप से स्वीकार की गयी। कहना होगा कि 'नयी कहानी' दौर के बाद आने वाले कहानीकारों को तो उपन्यास के क्षेत्र में उतनी सफलता भी नहीं मिली, जितनी राकेश-निर्मल-कमलेश्वर को मिली। इनमें राही मासूम रजा, गिरिराज किशोर और सुरेन्द्र वर्मा यदि महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारों के रूप में चर्चित हुए, तो कहानी के क्षेत्र में उनकी उपलब्धि नगण्य ही रही। इस परवर्ती दौर के चारों बहुचर्चित कहानीकारों, ज्ञानरंजन, दूधनाथसिंह, रवीन्द्र कालिया और काशीनाथ सिंह में से बाद में तीनों ने उपन्यास लिखे भी, तो वे पर्याप्त सफल नहीं हुए।

मजे की बात तो यह है कि प्रेमचन्द, जैनन्द्र, यशपाल, अमृतलाल नागर और भीष्म साहनी के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारों में भी उनकी सभी नहीं, मात्र इक्की-दुक्की रचनायें ही शाहकार मानी गईं। यथा रेणु का 'मैला आँचल', श्रीलाल शुक्ल का 'रागदरबारी', राही मासूम रजा का 'आधा गाँव', मन्नू भण्डारी का 'महाभोज', कृष्णा सोबती का 'जिन्दगीनामा', और सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए' आदि। कहना न होगा कि हिन्दी कथा-साहित्य की इन दोनों विधाओं में उपलब्धियों के इस दिलचस्प विभाजन की खाई निरन्तर चौड़ी ही होती गई है। इसी तरह उपन्यास के क्षेत्र में भी प्रेमचन्द, यशपाल, नागरजी या भीष्म साहनी की भाँति शाहकार कृतियों का नैरंतर्य कहीं नहीं दिखता।

समीक्ष्य कृति 'रेहन पर रग्घू' काशीनाथ सिंह का तीसरा उपन्यास है। उनका पहला उपन्यास 'अपना मोर्चा' बिल्कुल सफल नहीं माना गया। इसी तरह उनकी दूसरी रचना 'काशी का अस्सी' को भी ज्यादातर लोगों ने 'उपन्यास' के बजाय संस्मरण ही अधिक माना था। कुछ लोगों ने इसे उपन्यास के बने-बनाये ढाँचे को तोड़कर एक नये शिल्प की खोज का प्रयास कहा था। हम कह सकते हैं कि कम-से-कम 'रेहन पर रग्घू' की औपन्यासिक संरचना को लेकर तो किसी को कोई सन्देह नहीं होगा। यह बात दीगर है कि 'ब्लर्ब' पर छपी स्तुति में इस 'बीते दो दशक के यथार्थ' के 'औपन्यासिक रूपान्तरण' को भूमण्डलीकरण से जोड़ने की हड़बड़ी प्रचलित फैशनपरस्ती लग सकती है। हर बात को उत्तर-आधुनिकता और भूमण्डलीकरण से जोड़ने की जल्दबाजी और उसी के 'परिणाम-स्वरूप' घोषित करने की हड़बड़ी अति-सरलीकरण के अलावा और कुछ नहीं। भूमण्डलीकरण और उत्तर-आधुनिकता की अमेरिकी और पाश्चात्य अवधारणाएँ अतिशय गम्भीर, पेचीदा और बहुआयामी संकल्पनाएँ हैं। ये गहन अध्ययन और सूक्ष्म विश्लेषण की माँग करती है। यह बात दीगर है कि हिन्दी की फिजाँ में घमासान मचाने वाली ये अवधारणाएँ खुद पश्चिम में पिट-पिटाकर ध्वस्त हो चुकी हैं और उनके नव-साम्राज्यवादी मंसूबे खुलकर उजागर हो चुके हैं।

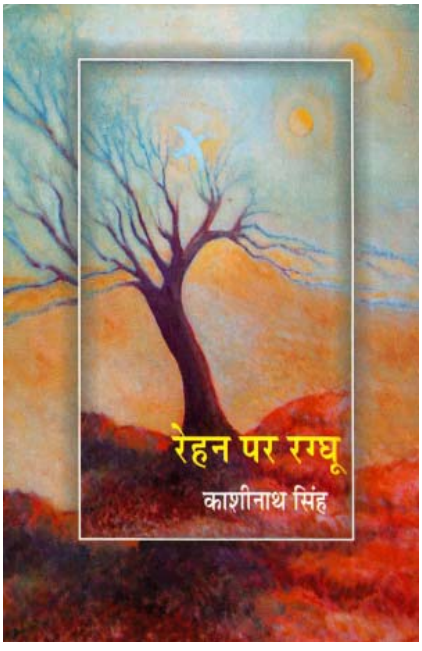

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ''संवेदना सम्बन्ध और सामूहिकता की दुनिया में जो निर्मम ध्वंस हुआ है-तब्दीलियों का जो तूफान निर्मित हुआ है,'' इस उपन्यास में रघुनाथ उर्फ रग्घू और उनके परिवार के माध्यम से काशीनाथ सिंह ने उसका अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है। सिर्फ वर्णन ही नहीं, बड़ा सूक्ष्म और सधा हुआ कलात्मक चित्रांकन भी। लेकिन यह ध्वंस और ये तमाम तब्दीलियाँ तो शहरों, कस्बों और गाँवों तक धँसती हुई

तथा सब-कुछ को अपने सर्वग्रासी विनाश में समेटती हुई पूँजीवादी व्यवस्था के सामान्य परिणाम है। काशीनाथ सिहं ने इन्हीं परिणामों को पहाड़पुर और बनारस के माध्यम से बड़ी तटस्थता, कलात्मक सधाव और खूबसूरती के साथ चित्रित किया है। अपनी जड़ों और जमीन से कट चुकी युवा नयी पीढ़ी के चरम अवसरवादी और लम्पट (लुम्पेन) चरित्र की त्रासद परिणतियों तक। इसका एक छोर यदि पूँजीवादी दुनिया के नरक अमरीका को छूता है तो दूसरा जमीनें हथियाने और अपहरण करने वाले माफिया गिरोहों के 'शार्प-शूटर्स' को।

अवसरवादी तो पुरानी पीढ़ी के रघुनाथ भी कम नहीं थे, जिन्होंने ''विनम्रता, मित भाषिता और मुसकान के साथ जीवन की यात्रा शुरू की थी।'' बकौल काशीनाथ सिंह ''जिस झुके रहने पर वे शर्म महसूस करते थे, वही उनकी खूबी है-यह नया बोध हुआ। इसमें उन्होंने आगे चलकर दो खूबियाँ और जोड़ दीं-मुस्कान और सहमति। कोई कुछ कहे वे मुस्कराते रहते थे और समर्थन में सिर हिलाते रहते थे।'' यह समझौतापरस्ती ही उनकी सफलता का राज था। इसके बीज भी खुद उन्हीं के भीतर थे, बस आजादी के बाद तेजी से विकसित होने वाली पूँजीवादी व्यवस्था के खाद-पानी और भ्रष्ट परिवेश में वे फले-फूले थे :''हर सुखी और सफल आदमी की तरह रघुनाथ ने भी अपने जीने, आगे बढ़ने और ऊँचाइयाँ छूने के कुछ नुस्खे ईजाद कर लिए थे। सच पूछिए तो उन्होंने ईजाद नहीं किए थे, उनकी प्रकृति में ही थे, बस वे समझ गये थे और उन्हें अपने नित्य व्यवहार का अंग बना लिया था।'' रघुनाथ का यह 'नित्य व्यवहार' आजादी के बाद विकसित होने वाले मध्यवर्ग का प्रतिनिधि व्यवहार बन गया था।

लेकिन पुरानी पीढ़ी के रघुनाथ कस्बे के डिग्री कॉलेज में अध्यापक होने के बाद भी अपने निकटवर्ती गाँव और अपनी जमीन से बड़े गहरे जुड़े हुए थे। सिर्फ जुड़े हुए ही नही बल्कि रहते भी वहीं थे। उन्हें अपनी जड़ों और जमीन से बेदखल करना एक तरह से उँगलियों से नाखून उखाड़ने की तरह तकलीफदेह था। लेकिन वे अपने दोनों बेटों की बदौलत इस त्रासद और मर्मान्तक नियति से बच नहीं सके क्योंकि ''बेटे आगे बढ़ते हुए इतने आगे चले गये हैं कि वहाँ से पीछे देखें भी तो न बाप नजर आयेगा, न माँ।'' यहाँ तक कि जब वे अमेरिका में बसे बड़े बेटे की वापस लौटी परित्यक्ता पत्नी सोनल के बनारस स्थित बँगले पर उसके आश्रित बनकर रहते हैं तो उनकी पत्नी भी उन्हें छोड़कर चली जाती है। दरअसल शुरू से ही ''शीला के साथ रघुनाथ के रिश्ते दाम्पत्य के ही रहे, प्यार के नहीं हो सके'' और फलस्वरूप ''उसका चेहरा ऐसा पथरीला (हो गया) था कि उस पर कोई भी कोमल भाव नहीं आ पाता था'' तथा कभी ''खुशी उसके चेहरे पर उभरती भी थी तो अनचाहे धब्बे की तरह''।

रघुनाथ ने हमेशा अपने तीनों बच्चों, खासकर बड़े बेटे संजय को आगे बढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। वे कभी उनकी राह के रोड़े नहीं बने थे। उनके लिए खुद को होम कर दिया था, हर अपमान झेला था और हर समझौता किया था, लेकिन ''जिनके लिए बेघर हुए उन्हीं के अपने अलग घर।'' अलग घर भी कैसे? बड़ा बेटा बीबी को छोड़कर अमेरिका में दूसरी औरत के साथ बस गया था। उसकी बीवी, जिसके रघुनाथ आश्रित थे, अपने पूर्व-परिचित पत्रकार समीर से सम्बन्ध बना लेती है, जो राजनीतिक 'एक्टिविस्ट' बनकर बिहार के किसी 'ग्रुप' से जुड़ा था। अवैध सम्बन्धों और 'क्रान्ति' केा एकसाथ साधने वाले इन युवाओं के बारे में काशीनाथ सिंह ने उपन्यास में बड़ी सटीक टिप्पणी दर्ज की है कि ''बीवी की कमाई और नौकरशाहों के चन्दे पर क्रान्ति करने वाले ऐसे युवकेां की भरमार है बिहार में। वे जल्दी ही नाश्ते और चाय पानी के लिए दूसरों को ढूँढ़ते सड़क पर दिखायी पड़ने लगते हैं।'' कहना न होगा कि समीर-जैसे ऐसे युवाओं के बुनियादी चरित्र में संजय और उसके छोटे भाई घनंजय से कोई बड़ा भारी अन्तर नहीं है। घनंजय भी एक बच्ची की माँ और अपने से बड़ी उम्र की एक घनाढ्य विधवा औरत के रखैल की भूमिका निभाता हुआ अपने घर-गाँव और परिवार से कटकर नोएडा में बस जाता है। जहाँ तक उनकी बेटी सरला का सवाल है, तो वह एक ऐसी स्वतन्त्र और निर्द्वन्द्व स्त्री है जो दूसरे शहर में नौकरी करती है, जहाँ वह अनुसूचित जाति के अपने एक सहपाठी से शादी करना चाहती है जो अब वहाँ एस. डी. एम. है।

जब उनके बेटे गाँव का घर और जमीन बेचकर पैसा दोनों में बाँटने की सलाह देते हैं, तो रघुनाथ बिलबिला उठते है :''खेत भी उसे पहचानते हैं जो उनके साथ जीता मरता है। वे खेतों को क्या पहचानेंगे, खेत ही उन्हें पहचानने से इनकार कर देंगे।'' लेकिन पढ़े-लिखे रघुनाथ घर-गाँव और खेतों से लगाव के बाद भी इस-सबको छोड़कर अकेले बनारस रहने पर विवश होते हैं। अपने ही पट्टीदारों द्वारा अपनी जमीन हड़पने और हत्या तक का षड़यन्त्र रचने की त्रासदी उन्हें दहला जाती है। गाँव अब प्रेमचन्द या रेणु के गाँव नहीं रह गये थे। गाँवों में घटित हुई इस तब्दीली को कथाकार ने बड़े ही संक्षिप्त किन्तु सटीक ढंग से दर्ज किया है :''गाँव में वह सब पहुँच रहा था धीरे-धीरे, जो शहर में था-बिजली भी, नल भी, फ्रिज भी, फोन भी, टी. वी. भी, अखबार भी...(वहाँ) मजा था भी तो उनके लिए जिनके पास ट्रेक्टर था, थ्रेशर था, पम्पिंग सेट था, बोलेरो या सफारी थी, जो खेती पेट के लिए नहीं, व्यवसाय के लिए कर रहे थे जो एक नहीं एक ही साथ सभी राजनीतिक पार्टियों के हमर्दद और मददगार थे।'' यह कृषि में पूँजीवादी सम्बन्धों के विस्तार और उसके परिणामों के सिवा और कुछ नहीं। यह जग जाहिर है कि तथाकथित हरित क्रान्ति का लाभ बड़े जमींदारों और धनी किसानों को ही मिलता रहा है। इससे गाँवों में पहले ही से मौजूद असमानता की खाई और चौड़ी होती रही है।

असमानता की खाई के निरन्तर गहरी और चौड़ी होते जाने के साथ ही गाँवों में पारम्परिक जातिगत समीकरण भी बदल रहे थे। दशरथ यादव के बेटे जसवन्त के रूप में एक नया मध्यवर्ग उभर रहा था, जो सवर्ण जमींदारों और धनी किसानों तथा वंचित दलितों, दोनों के लाभ कमाकर एक नयी देहाती ताकत बन रहा था। कथाकार ने रघुनाथ की टिप्पणी के माध्यम से इसकी ओर भी संकेत किया है :''किस बात के बड़े हैं हम-तुम? पुरखों की जमीन और जाति के भरोसे?...तुमने ही अपने खेत बेचे। ठाकुरों

में ही किसी ने क्यों नहीं खरीदा?...खरीदा तो आखिर जसवन्त ही ने। आज भी हमारी तुम्हारी खेती उसके भरोसे होती है, ट्रेक्टर उसके पास है, रूपये उसके पास है। विधायक उसके हैं, सांसद उसके हैं, सरकार उसकी है, वे आते भी उसी के पास हैं, किसी काम के लिए सिफारिश भी करवानी होती है तो आप उसी के पास जाते हैं।'' बदले हुए जातिगत समीकरणों में ग्रामीण क्षेत्रों में यह एक नयी आर्थिक-राजनीतिक शक्ति उभरी थी, जिसने सारे सत्ता-समीकरण बदल डाले थे। काशीनाथ सिंह ने दलित खेत मजदूरों की हड़ताल के माध्यम से इन तब्दीलियों और उनके कारणों की ओर भी संकेत किया है :

''हलवाहों ने हड़ताल की थी ऐसे ही वक्त पर-खेत के जोत, बन्नी और केड़ा को लेकर। हड़ौरी (हल जोतने की मजूरी) और खलिहानी को लेकर। बाबा आदम के जमाने से चले आ रहे रेट पर काम करने से इनकार कर दिया था हलवाहों ने।... नतीजा यह कि खेतों से लेव का पानी सूखने लगा था, चरनी पर बँधे मवेशी गोबर मूत में ही उठ बैठ रहे थे और पूरा ठकुरान गन्दगी से बजबजा रहा था।

''इस बार की हड़ताल को समझाने में ठाकुर गच्चा खा गये थे। हलवाहे न थक हारकर आए न गिड़गिड़ाए न उनके चूल्हे बुझे। जरूरत भी पड़ी तो अहिरान गये, इधर नहीं आये। पूरे इलाके की चमटोलों का भविष्य पहाड़पुर की हड़ताल पर टिका था-इसे वे समझ गये थे।'' जब हड़ताल खत्म हो जाती है, तो ''गाँव धीरे-धीरे पहले वाले ढर्रे पर लौटने लगा-नये बदलाव और नयी व्यवस्था के साथ। फर्क इतना ही आया कि जो हलवाहे बाहर नौकरी करते थे और गाँव लौटते थे, वे ठकुरान में न जाकर अहिरान में जाना उठना बैठना पसन्द करते थे। शायद उन्हें वहाँ बराबरी का अहसास होता था।'' इस इतने-से फर्क ने ही परम्परागत सामूहिक सम्बन्धों, गाँव-घर और परिवार की आपसी संवेदनाओं और पुराने लोक-व्यवहार से लेकर जातिगत और सत्ता समीकरणों को एक सिरे से बदल डाला था। कहना न होगा कि इन परिवर्तनों की सूक्ष्म पड़ताल करते हुए काशीनाथ सिंह ने इस बदले हुए ग्रामीण यथार्थ का ऐसा मार्मिक किन्तु सतर्क और सटीक चित्रांकन किया है कि किन्ही अंशों को पढ़ते हुए बरबस प्रेमचन्द और फणीश्वरनाथ रेणु की याद ताजा हो जाती है। इसमें उनकी भाषा और किसानी व्यवहार, उपकरणों और प्रक्रियाओं की देहाती शब्दावली भी खासी मददगार नजर आती है। साथ ही कहीं-कहीं दबी-छिपी हुई मंद-मंद व्यंग्य की एक अव्यक्त अन्तर्धारा भी, जहाँ यह पता ही नहीं चलता कि नश्तर कहाँ लगा और कथाकार अपना काम कर जाता है।

इस समीक्षा में उद्घृत अंशों से भी काशीनाथ सिंह की इस कला और भाषा की कीमियागिरी का खासा पता चल जाता है। फिर भी इस कला का कमाल देखने के लिए यह एक और अंश दृष्टव्य है : ''कई दिनों तक दुआर कूड़ा और कचड़े का ढेर बना रहा, कई दिनों तक चरनी और नाद के आसपास की जगहें गोबर से बजबजाती रहीं। लेटे-लेटे खटिया तोड़ने वाले ठाकुर कभी कोने में पड़ी कुदाल की ओर देखते कभी फरसा की ओर, कभी फरूही, कूँचा और झाड़ की ओर-और थक कर अन्त में उस छौर की ओर जिधर से हलवाहे आते थे।'' वास्तव में, काशीनाथ सिंह की असली शक्ति भी यही है। वे प्रेमचन्द और रेणु की तरह जैसी तल्लीनता के साथ और जितनी आत्मीयता से ग्रामीण परिवेश का चित्रण करते है, वैसी आत्मीयता और तल्लीनता बनारस के 'अशोक विहार' की कहानी के वर्णन में नजर नहीं आती।

लेकिन पूँजीवाद के फैलाव के साथ-साथ विकसित होने वाले एक नये किस्म के मध्यवर्गीय 'नये नागरिक' और उसकी नये किस्म की कालोनियों के विकास के बहाने काशीनाथ सिंह ने अशोक विहार के लोकेल का चित्रण करते हुए गाँवों की तरह शहरों-कस्बों में घटित होने वाली तब्दीलियों को पकड़ने की भी कोशिश की है। पुराने बनारस और नये बनारस तथा उनके बाशिन्दों के बहाने वे इसी ओर संकेत करते हैं : ''बनारस में मुहल्ले थे, नगर, विहार और कालोनियाँ नहीं। इनका निर्माण शुरू हुआ 1980-90 के आसपास जब पूर्वांचल और बिहार में भू-माफियाओं और बाहुबलियों का उदय हुआ। उन्होंने नगर के दक्खिन, पच्छिम और उत्तर बसे गाँव के गाँव खरीदे और उनकी 'प्लॉटिंग' करके बेचना शुरू किया। देखते-देखते पन्द्रह-बीस वर्षों के अन्दर गाँव के वजूद खत्म हो गये और उनकी जगह नये-नये नामों के साथ नगर, कालोनियाँ और विहार बस गये।

यह नया बनारस था-महानगरों की तर्ज का।

मुहल्लों में रहने वाले मुहल्लों और महालों में ही रहे-अपने पुश्तैनी काम-धन्धों, दुकानों, रोजगारों और घाटों के साथ लेकिन इन कालोनियों में बसने वाले ज्यादातर नये नागरिक थे।'' ये 'नये नागरिक' ही वह नया मध्यवर्ग है जो धीरे-धीरे अपनी जड़ों से कटता जा रहा है। इसी नये मध्यवर्ग की युवा और युवतर पीढ़ियाँ संवेदना, सम्बन्धों और सामूहिकता की सारी भावनाओं और लोक व्यवहार का एक सिरे से निर्मम ध्वँस करती हुई या तो तथाकथित सफलता की टुच्ची सीढ़ियाँ चढ़ती संजय की तरह बिल्कुल बेगानी होती जा रही हैं अथवा फिर बेरोजगारी की दंश झेलती-झेलती धनंजय की तरह कुंठित और पतित होती जा रही है। इन दोनों से अलग किन्तु और भी भयावह 'शार्टकट' का वह तीसरा रास्ता है जिसका दरवाजा सीधे जुर्म की काली अँधेरी दुनिया में खुलता है, जिसकी ओर उपन्यास के अन्त में संकेत किया गया है। जिन्हें फैशनपरस्ती की भाषा से ज्यादा लगाव है, वे सरला और हलवाहों की हड़ताल के माध्यम से तथाकथित स्त्री-विमर्श और दलित विमर्श के लेबल भी चस्पाँ कर सकते हैं। कुल-मिलाकर यह तो कहा ही जा सकता है कि उपन्यासकार के रूप में काशीनाथ सिंह का यह आगे बढ़ा हुआ कदम है, जिसका निश्चय ही स्वागत किया जाना चाहिए।

रेहन पर रग्घू/ काशीनाथ सिंह/ राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : 150 रु.

बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेन्ट्स, वसुंधरा इंक्लेव, दिल्ली-110096

असंस्कृत धर्माचरण की हाहाकारी गाथा

कान्तिकुमार जैन

मधु कांकारिया का उपन्यास 'सेज पर संस्कृत' पढ़ना प्रारम्भ करने से पहले पाठकों को यह वैधानिक चेतावनी देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस उपन्यास को वे न पढ़ें जिनकी अहिंसा के परम धर्म होने में धार्मिक आस्था है और जो मुनियों, महाराजों, साधुओं और साध्वियों के विरुद्ध कुछ भी सुनने को तैयार नहीं हैं। मधु कांकरिया का 'सेज पर संस्कृत' ऐसे लोगों के लिए खतरनाक उपन्यास है क्योंकि इसको समाप्त करने के उपरान्त वे वहीं नहीं रह जायेंगे जो वे इसे प्रारम्भ करने के पूर्व थे। उनके मन में धर्म को–विशेषकर–जैन धर्म को लेकर–लाखों संशय उत्पन्न होंगे हजारों प्रश्न उठेंगे, सैंकड़ों जिज्ञासाएँ उन्हें व्याकुल करेंगी, दसियों व्यवहार उन्हें निरर्थक लगने लगेंगे और सबसे बड़ी बात जो होगी वह यह कि धार्मिक आस्था और मानवीय संवेदना के बीच एक द्वंद्व उत्पन्न होगा। जिसमें मानवीय संवेदना का पलड़ा उन्हें भारी लगेगा और धर्म निरर्थक, निरुपयोगी और निष्फल। धर्म पर उपन्यास लिखना आग से खेलना है। जिन्होंने आज तक धर्म के किसी भी रूप को औपन्यासिक कृतित्व का विषय बनाया है उन्हें विवादों से जूझना पड़ा है, कुछ के विरुद्ध फतवे भी जारी किये गये हैं। मिडनाइट चिल्ड्रेन, लज्जा, द विंची कोड इसके उदाहरण हैं। मधु कांकरिया यदि अपने इस उपन्यास के बावजूद अभी तक सुरक्षित हैं तो इसलिए नहीं कि इसमें विस्फोटक सामाग्री की कोई कमी है बल्कि इसलिए कि जिस धर्म के बारे में इस उपन्यास में अनेक वैचारिक और कर्म कांडिक अँगुलियाँ उठाई गयी हैं उनके धर्माचार्य और नीति विशारद धार्मिक साहित्य और आगमों के पारायण में इतने तल्लीन रहते हैं कि उन्हें

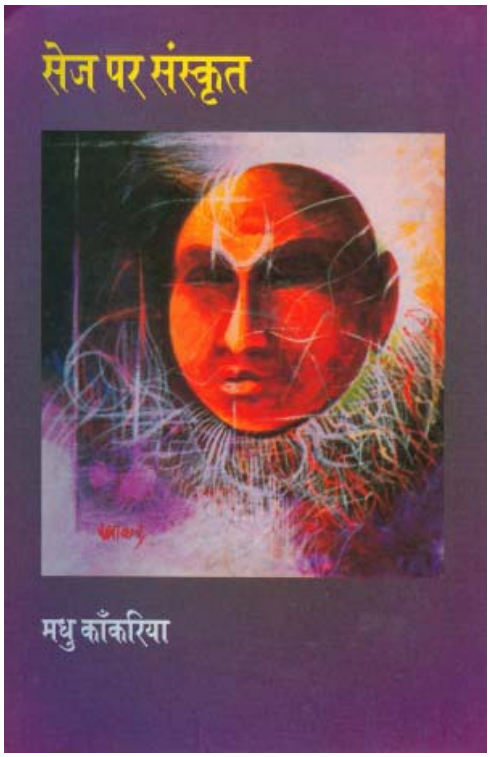

आधुनिक साहित्य को पढ़ने या उसके सम्बन्ध में कुछ जानने की न तो इच्छा होती है और न ही उसके लिए समय।

'सेज पर संस्कृत' में जैन धर्म के एक विशिष्ट मतावलंबियों के परिवार को केन्द्र बनाकर अहिंसा के तत्त्व चिंतक के व्यावहारिक रूप और उसके फलितार्थ के विभिन्न उपसंगों पर व्यक्ति, समाज, धर्म और उनके संसार की शल्य परीक्षा की गई है। मधु कांकरिया कथा रचने में सिद्ध हस्त हैं। कथा के शिल्प को वे एक अनुभवी कुंभकार के समान निरन्तर उपन्यास के चाक पर चढ़ाये रखती हैं। तुलसीदास ने अपने महाकाव्य में लिखा है 'जाहि मुई सुख सम्पत्तिनासी, मूँड मुड़ाये भये संन्यासी।' मधु कांकरिया अपने इस उपन्यास में तुलसी की उक्ति के नये पाठ प्रस्तुत करती हैं। पिता के निधन और सुख सम्पत्ति के नाश के उपरान्त कैसे उसकी अबोध पुत्री और विधवा बेलमुंडी होने के लिए बाध्य होती है, इसका बड़ा रोचक विवरण इस उपन्यास में है। समाज इन स्त्रियों को कैसे साध्वी जीवन की दीक्षा के लिए उत्प्रेरित करता है और कैसे धर्म धुएण अपने निहित स्वार्थों के लिए इस उत्प्रेरणा के कुचक्र में सम्मिलित होते हैं, यह पाठक को समझदार भले बनाता हो, उसे दु:खी भी करता है।

'सेज पर संस्कृत' में संभाषण जैसे सामान्यतया शृंगार रस में बाधक होता है, वैसे ही जैन धर्म की कठोर जीवन चर्चा कला, संस्कृति, देह और सामाजिक सम्बन्धों का आनन्द उठाने में बाधक होती है, अपनी इस अवधारणा को लेखिका बड़े कौशल से उपन्यास के 'दि अहिंसा टाइम्स', 'सेज पर संस्कृत, 'वजूद', 'अन्वेषण' और एक असमाप्त दुस्वप्न' शीर्षक, पाँच खण्डों में, प्रस्तुत करती है। 'दि अहिंसा टाइम्स', 'सेज पर संस्कृत' और 'एक असमाप्त दुस्वप्न' ही उपन्यास के आँख, कान और नाक हैं। शेषखण्ड कथा को आगे बढ़ाने का कार्य करते हैं। इन खण्डों में कथा एक निम्न मध्यवित्त परिवार के दैनंदिन जीवन के कर्मकण्डों से प्रारम्भ होकर धर्म गुरुओं के कपटाचरण की हाहाकारी त्रासदी तक पहुँचती है। इस कथा विकास में जैन मतावलंबिओं के उपासर की कहानी है, जैन तीर्थों की कथा है, जैन साधुओं और साध्वियों की वैयक्तिक हताशाएँ है और जैन धर्म में अति पवित्र माने जाने वाले कर्मकाण्डों के आख्यान हैं। अहिंसा को परम धर्म के स्वयं घोषित करने वाला तत्त्वचिन्तन कैसे आत्मविकास की एकांत साधना के कारण समाज विमुख और लोक निरपेक्ष हो गया है,

इसके बड़े मार्मिक आख्यान हैं। कथा लेखिका ने प्रसंग निकालकर झारखण्ड के आदिवासियों की भीषण विपन्नता किन्तु उनके अदम्य जीवन का चित्रण जिस रूप में किया है, वह लेखिका को अत्यन्त संवेदनशील, समाजोन्मुखी एवं लोक मंमल का आग्रही सिद्ध करता है। लेखिका कोलकाता के वेश्या-संसार की हाहाकारी और निरुपाय से लगने वाले कैंसर से भी परिचित है। लेखिका ने धर्म की विरूपता और उस विरूपता में स्त्री की नारकीय स्थिति का ही चित्रण नहीं किया है, नारी शक्ति संघ के माध्यम से उस नारकीयता से उबरने के उपायों की भी पड़ताल की है। ये उपाय प्रेमचंद द्वारा सुझाये गये 'सेवा सदन' जैसे आदर्शवादी उपायों से भिन्न हैं। मधु कांकरिया एक एक्टीविस्ट की तरह वेश्या-जीवन के कारणों की तलाश में अर्थ के साथ ही धर्म को भी खंगालती हैं।

उपन्यास में पात्र बहुत नहीं हैं। लघु उपन्यास में यों भी पात्रों की बहुलता न तो आवश्यक होती है, न ही वांछनीय। 'सेज पर संस्कृत' जैसे उपन्यास किसी धारणा को पल्लवित करने के लिए लिखे जाते हैं। उनमें पात्र वृक्ष की उन डालों के समान होते है जिस पर विचारों के पत्र थमे रह सकें। लेखिका ने अपने विचारों के अंकुरण और पल्लवन के लिए विशिष्ट शैली अपनाई है। एक पात्र विचार विशेष को प्रकट करता है, दूसरा उसके समर्थन में नाना घटनाओं को प्रस्तुत करता है, माँ और छुटकी, पिताजी और ऋषि, संघ मित्रा और मालविका जैसे कुछ युग्म सहज ही उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। ये समी युग्म जैन धर्म और समाज की किसी न किसी प्रवृत्ति के प्रवक्ता है। इन सभी युग्मों में जो युग्मचर्या महत्त्वपूर्ण हैं और कथानक को आगे बढ़ाती है वह माँ और छुटकी, संघमित्रा और मालविका एवं अभयमुनि और विजयेन्द्र की है। छुटकी अबोध और अनुभवहीन है। साध्वी के जीवन के कठोर संयम और अनुशासन से उसका परिचय नहीं है। उसकी माँ अपने पति के देहावसान के उपरांत जिस असुरक्षा और अभाव का अनुभव करती है उसके लिए वह एक सुरक्षा कवच चाहती है और वह सुरक्षा कवच उसे साध्वी के जीवन में परिलक्षित होता है। समाज द्वारा मिलने वाला जयजयकार और संघ द्वारा मिलनेवाली सुरक्षा माँ को साध्वी बनने के लिए प्रेरित करती है। इसी प्रेरणा से वह अपनी छोटी बेटी को भी अकाल ही साध्वी जीवन की कठोर चर्या की चक्की में पिसने के लिए ढकेल देती है। उसकी बड़ी बेटी संघमित्रा छुटकी के इस अकाल और अकारण निर्णय का विरोध करती है।

मधुकांकरिया के इस उपन्यास में जीवन के विविध रंग है, उनके इस उपन्यास में लेस्वियन स्त्रियाँ हैं, संवेदनाविहीन जैन साधु हैं, धर्म शास्त्रों के बीच संभोग से समाधि तक छिपाकर रखने वाली साध्वियाँ हैं, कोढ़ से घबराकर जीवन से पलायन करने वाले युवा हैं, स्त्री को धोखा देकर उससे बलात्कार करने वाले आचार्य हैं, उद्योगपतियों से साधुसंघों के गठजोड़ के किस्से हैं और आदिवासियों के शोषण के आख्यान हैं। सब मिलाकर मधु कांकरिया धर्म की आड़ में अर्थ और काम की जो शक्तियाँ हमारे समय की राजनीति और समाज को प्रभावित कर रही हैं, उनके प्रसंग हैं। लेखिका धर्म को मानवीय गरिमा के संवाहक के रूप में देखना चाहती है जबकि हमारा धर्म मनुष्य की सम्पूर्ण पराजय का प्रतीक बन गया है।

मधु कांकरिया प्रकृति की सहचर हैं। वे जीव और वनस्पति जगत् को अत्यन्त आत्मीयता से जानती हैं। वे मानवीय व्यवहार और स्थितियों को रेखांकित करने के लिए प्राय: जीव जगत् से उपमान प्रस्तुत करती हैं। उनकी भाषा में खुशी के सारे खरगोश झाड़ियों में छिपते हैं, स्वप्न जुगनुओं की तरह झिलमिलाते हैं और सुअर चुस्त कमांडो की तरह काम करते हैं। बिगड़ी घोड़ी की तरह बिदकना, उलटे पड़े तिलचट्टों की तरह

व्याकुल होना, दुश्चिन्ताओं का बन्दर की तरह कूदफाँद मचाना जैसी अभिव्यक्तियाँ भाषा को और पाठक को भी ताजगी से भर देती हैं। आदिवासी जीवन के संसर्ग के कारण वे महुआ सी मोहक हँसी, मखाने जैसी मीठी हँसी जैसे लोकधर्मों बिम्बों का सहज प्रयोग करने में सिद्ध हैं। उनकी विचार धारा का पता उनके विमर्शों से ही नहीं, उनके भाषा-व्यवहार से भी चलता है। भाजपा की तरह भड़कना जैसे पद प्रयोग उनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता की सूचना देते हैं। उन्होंने अपने उपन्यास में लोक जीवन के कई ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिन्हे परिनिष्ठित हिन्दी में स्वीकार करने से हिन्दी की शब्द-संपदा में अभिवृद्धि होगी। सूखी रोटी के लिए खाखरा, हरी सब्जियों के लिए लिलोती, मलत्याग के मसान ऐसे ही कुछ प्रयोग हैं। हिन्दी को व्यापक बनाने और हिन्दीतर भाषाओं और हिन्दी की बोलियों के शब्दों को स्वीकारने का, जो अभियान चन्द्रघर शर्मा गुलेरी ने 'उसने कहा था' में छेड़ा था, वह मधु कांकरिया तक आते-आते उनसे पर्याप्त सुदृढ़ हो चुका है।

साहित्य का काम समाज को सुधारना है या उसे बदलना-जैसे विवादों का कोई अन्त नहीं है। साहित्य से समाज यदि सुधारा या बदलता होता तो वह कभी का बदल गया होता। मधु कांकरिया के इस उपन्यास से जैन धर्माचार्य या अहिंसा को परमधर्म मानने वाले शायद ही सुधरें। हाँ, णमो अरिहंताणम् का जाप करने वाले किन्तु णमो अंधकारम् में आकण्ठ निमग्न जिस समाज की गाथा लेखिका ने अपने उपन्यास में गाई है, उसके गंतव्यों, मंतव्यों और हंतव्यों को समझने में यह उपन्यास अवश्य सहायक होगा। मधु कांकरिया के पास धर्म और समाज को समझने की बेहद संवेदनशील दृष्टि है, वे धर्म और समाज की संधियों में छिपे झींगुरों एवं तिलचट्टों को प्रकाश में लाती हैं। कहने की जरूरत नहीं कि लेखिका ने दुस्साहस के साथ अपने समय के धर्माचरण का पर्दाफाश किया है।

सेज पर संस्कृत/ मधु कांकरिया/ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2/ मूल्य : 250 रु.

5, विद्यापुरम्, मकरोनिया कैंप, सागर-470004

आलोचना के हाशिये पर सही आलोचना

रेवती रमण

बीसवी सदी के अन्त में हिन्दी आलोचना को उत्तर आधुनिकतावाद के मायाजाल से बचा ले जाने के प्रयास में सबसे सार्थक भूमिका रचनाकार आलोचकों की कही जा सकती है। उन्हें हम रचना के स्तर से विफल नहीं कह सकते। बल्कि, उनकी रचनात्मक विकलता ही उनके आलोचनात्मक लेखन का प्राणतत्व रही है। इस वक्त जो श्रेष्ठ सर्जनात्मक है, वही श्रेष्ठ आलोचनात्मक है। कविता में आलोचना या आलोचना में कविता जो करते रहे हैं उनकी बात कुछ और है। डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की नई किताब 'आलोचना के हाशिये पर' पढ़ते हुए एक व्यक्तित्व-सम्पन्न लेखक का खयाल आता है, जो मूलत: तो कवि है, पर सम्पादक, चिन्तक और संस्मरण-लेखक के रूप में भी उनकी एक पहचान बनी है। उन्होंने कविता लिखते हुए मुख्य रूप से कविता ही लिखी है तो आलोचना में भी विधिवत और व्यवस्थित आलोचना ही की है। सम्भव है, उनका आलोचक किसी को आचार्य अधिक लगे। अब जो संस्कृति के बाजार में विज्ञापन की एजेन्सी चला रहे हैं, उनके लिए सौन्दर्यशास्त्र रंग बदलने में गिरगिट को भी मात देने वाली चीज हो सकती है। विश्वनाथ जी अवधारणाओं के संकट के समय के एक दृष्टि-सम्पन्न चिन्तक हैं। उनका विचारधारा का किया गया विरोध भी विचारधारासम्पन्न है क्योंकि उनके अनुभूत यथार्थ के पीछे भविष्यवादी सर्जक दृष्टि सक्रिय है, सतेज है। सवाल उठता है कि एक रचनाकार की छवि सांस्कृतिक युद्ध के सैनिक की हो सकती है तो एक आलोचक की क्यों नहीं?

इस किताब में विश्वनाथ जी 'प्रतिबद्धता' के स्वीकृत स्वरूप को कठघरे में खड़ा करते हैं। वह सत्ता विषयक मीमांसा नहीं है तो प्रतिरोध का दर्शन भी अब नहीं कही जा सकती। रचनाकार सत्यनिष्ठ होता है तो यह उसकी प्रतिबद्धता हो सकती है। इस किताब में तेईस लेख संकलित हैं और कई तो ऐसे हैं जिनमें सत्याघात की खबरें खास हैं। शुरू के पाँच लेखों में व्यक्ति और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की सैद्धान्तिकी है। गद्य-शिल्प निखरा हुआ, विचार सघन, अनुभूति की ऊष्मा और चुनौतियों के ताप और तनाव से युक्त। 'रचना के सरोकार' में कुछ इसकी झलक मिल सकती है।

विश्वनाथ जी मार्क्सवाद का विरोध करते हैं यह एक वस्तुस्थिति है। पिछले सात-आठ दशकों में इस अन्धविश्वास को बढ़ावा मिला है कि जहाँ कहीं मनुष्यता है, सद्भाव और सम्भावना है, प्रेम और भाईचारा है, संवेदना और विचार है-सब मार्क्सवाद है।

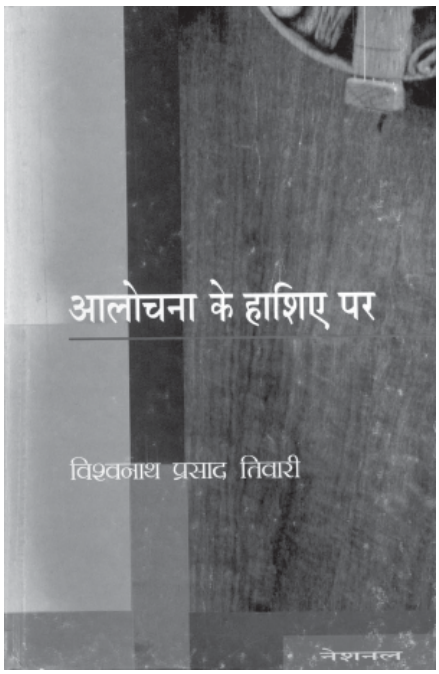

यानी मनुष्य और समाज में जो कुछ श्रेष्ठ है, मूल्यवान और मनोरम है, वह मार्क्सवाद है। लेकिन क्या यह सच है? इस किताब में ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि यह सच नहीं है। विश्वनाथ जी इस किताब के पहले ही लेख में 'राज्य, धर्म और विचारधारा' को मनुष्य की स्वाधीनता के शत्रु के रूप में दिखाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि-राज्य, धर्म, विचारधारा और साहित्य-इन चारों का लक्ष्य एक ही है, अर्थात् मनुष्य। इनका जन्म मनुष्य के हित के लिए ही हुआ है। पर कालान्तर में इनकी दिशाएँ अलग हो जाने के कारण इनमें स्पष्ट और गहरा विरोध हो गया है। राज्य, धर्म और विचारधारा-इन तीनों ने अपनी-अपनी सत्ता कायम कर ली है और जैसा कि सत्ता का मूल चरित्र होता है, ये अपनी-अपनी रक्षा में लगी हैं। इसलिए व्यवहार में इनका मनुष्य के साथ रिश्ता बदल गया है।' (पृ. 6) जो पहले मनुष्य के हित में था, आज स्वार्थवश मनुष्य-विरोध हो गया है। तो जो मनुष्य-विरोधी है, साहित्यकार को उसका विरोध करना चाहिए। यानी उसे राज्य, धर्म और विचारधारा के खिलाफ हो जाना चाहिए।

'आदि विद्रोही' की यह संकल्पना विश्वनाथ प्रसाद तिवाारी की आरम्भिक कविताओं में भी है। कवि को लड़ते रहना चाहिए, यथास्थिति के खिलाफ लिखते रहना चाहिए। यही बातें 'इतिहास और आलोचना' में डॉ. नामवर सिंह भी कह रहे थे। यानी साहित्यकार 'जीवन संग्राम का योद्धा' होता है। लेकिन वाद-विवाद से अलग आगे बढ़कर जब वस्तुत: युद्ध छिड़ जाता है तो विचारधारा का प्रशिक्षण पलायन को ही शौर्य सिद्ध करने लगता है।

मनुष्य की स्वाधीनता एक महान स्वप्न है और वह अन्तर्दृष्टि है जो दुनिया भर के महान रचनाकारों के साहित्य में मिलती है। वह बाधित न हो, इसके लिए लेखक को अन्य के साथ-साथ अपने से भी लड़ते रहना है। अपने से लड़ने का अर्थ है अपने भीतर सिर उठाते लालच से लड़ना। विश्वनाथ जी के मत में जिस दिन कोई लेखक अपने को किसी देश, जाति, धर्म या विचारधारात्मक संगठन का सदस्य मान लेता है, उसी दिन वह अपने स्थायी भाव से च्युत हो जाता है।'

मार्क्सवादी विचारक तटस्थता की जगह पक्षधरता की बात करते हैं। विश्वनाथ जी तटस्थता का नया अर्थ करते हैं। उनकी दृष्टि में तटस्थता का अर्थ है–वस्तुपरकता। विचार–स्वातन्त्र्य के वस्तुपरक होना अनिवार्य है और यह सम्भव है। राजनीति, सम्प्रदाय, धर्म, जाति, पार्टी–ये सब लेखक की स्वतन्त्रता को प्रभावित करते हैं। बावजूद इसके लेखक का विवेकबोध जिन्दा रहता है। अर्थात् न्याय के बिन्दु पर स्थित होना तटस्थता है।' विश्वनाथ जी तटस्थता के पक्ष में हैं, पक्षधरता के नहीं। तटस्थ हुए बिना लेखन में वस्तुनिष्ठा आ ही नहीं सकती।

इस किताब में कई अन्धविश्वासों का साहस के साथ विखण्डन किया गया है। विश्वनाथ जी मनुष्य को ही सर्वोपरि मानने पर सवाल खड़ा करते हैं। चण्डीदास से लेकर पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी तक, और सबसे पहले वेदव्यास आदि के कहने के बावजूद विश्वनाथ जी मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि मनुष्य ही सर्वोपरि है। उनका कहना है कि 'प्रकृति की शक्तियों से ही जिस मनुष्य का अस्तित्व सम्भव हुआ है, उस मनुष्य का अपने को सर्वश्रेष्ठ और सवोपरि मानना दम्भ नहीं तो और क्या है? मनुष्य खुद को सर्वोपरि मानकर अन्य प्राण्यिों के प्रति न्याय नहीं कर पाता। सच तो यह है कि 'मनुष्य से भी श्रेष्ठ और उससे भी ऊपर उसी के बनाये कमाये और अर्जित किये हुए मूल्य होते हैं जिनके लिए वह अपने प्राण उत्सर्ग कर देता है।' इसलिए साहित्य का लक्ष्य केवल मनुष्य नहीं हो सकता।

विश्वनाथ जी प्रसंगवश, मानववाद की सीमाएँ स्पष्ट कर देते हैं। मानववाद के आग्रह से जो निराला की कविता दान की प्रशंसा करते नहीं थकते, वे यह भूल जाते हैं कि झोली से पुए निकालकर बन्दरों को खिलाना कोई अमानुषिक कर्म नहीं है। दुखी मनुष्य की सहायता करना नैतिक कर्म है लेकिन इससे यह कहाँ सिद्ध हो जाता है कि अन्य प्राणियों के प्रति मनुष्य में दया, करुणा नहीं होनी चाहिए। प्रतिहिंसा को नागार्जुन ने एक जगह अपना स्थायीभाव कहा है, लेकिन यह सच नहीं है। उनकी 'नेवला' कविता खुद उन्हीं के मत का विखण्डन करती है। विश्वनाथ जी व्यंग्यबोध को श्रेष्ठ रचना की बाधा मानते हैं। स्थायी मूल्य तो करुणा ही है।

'करुणा' को विश्वनाथ जी 'महाभाव' कहते हैं। 'करुणा ही वह भीतर की नमी है जिसके सूख जाने पर मनुष्य में कोई कल्याणकारी भाव पैदा हो ही नहीं सकता।' आदिकवि ने क्रौंच-वध की घटना से क्रोध किया हो या उनके भीतर क्षोभ का उदय हुआ हो, उनके कण्ठ से जो श्लोक फूटा था वह करुणा से ही फूटा था। विश्वनाथ जी के मत में 'जो साहित्य पाठक के भीतर करुणा पैदा कर सके, मनुष्यता के सोये भावों को जगा सके, वह बेहतर साहित्य हे।' करुणा महाभाव इसलिए है कि वही कर्म में प्रवृत्त करती है और जब वह कर्म का रूप धारण कर लेती है तो बुद्ध और गाँधी के रूप में दिखाई पड़ती है।

संवेदना और विचारधारा में संवेदना प्राथमिक है। संवेदना के अभाव में विचारधारा यान्त्रिक साहित्य का उत्पादन है। इसकी अनुपस्थिति में कट्टरता जन्म लेती है और संकीर्णता शिखर पर पहुँच जाती है। हमारे समय में वर्ग और वर्ण के विचार से श्रेष्ठ सृजन का मार्ग अवरुद्ध हो चला है। विश्वनाथ जी दलित और स्त्री विमर्श के न साथ हैं, न उसके विरोधी। विरोध उनका कट्टरता से है, झूठ और बेईमानी से है। वे रचना के लोकतन्त्र को पाबन्दियों से मुक्त रखना चाहते हैं। जाति और सम्प्रदाय का विचार साहित्य-पथ को संकीर्ण करता है लेकिन संवेदना के सहारे रचनाकार, अनन्त रूपात्मक जगत से जुड़ जाता है।

संवेदना में, विचारधारा में विश्वनाथ जी संवेदना को ही प्राथमिक और सृजन का अपरिहार्य तत्त्व मानते हैं। दोनों का फर्क समझाते हुए उन्होंने एक दृष्टान्त दिया है– 'किसी दुखी प्राणी को देखकर संवेदना और विचारधारा दोनों की प्रतिक्रियाएँ अलग-अलग होती हैं। सड़क पर पड़े एक बेजुबान अनाथ नवजात शिशु को देखकर एक भावमयी स्त्री जो सबेरे मन्दिर से लौट रही है, उसे उठाकर अपने घर ले जाती है, मगर 'विचारधारापुष्ट' उसका पति उसे घर में रखने से इनकार कर देता है।' यह है संवेदना और विचारधारा का अन्तर। इसमें तर्क से अधिक व्यवहार की पुकार है। इसमें सन्देह नहीं कि विचारधारा ने साहित्य में तर्क को आश्रय दिया है, समझ की वैज्ञानिकता पर बल दिया है लेकिन कुल मिलाकर कर्त्तव्य कर्म के आवेग को उसने पंगु ही बनाया है। रचना में यथार्थवाद का आग्रह एक हद से आगे रचना को रचना नहीं रहने देता।

यथार्थवाद और विचारधारा के व्यामोह ने आज रचनाकार को कुछ अधिक ही सामाजिक–वैश्विक रूप दे दिया है। उसकी रचना में दुनिया भर की जानकारी होती है, वस्तुएँ दृश्यमान होती हैं पर जो एक चीज नहीं दिखाई देती वह है रचनाकार की निजता। आज की अधिकांश रचनाओं में रचनाकार की निजता अनुपस्थित है। तटस्थता के तर्क से यह अच्छी बात है, लेकिन विश्वनाथ जी एक दूसरी बात कहना चाहते हैं। उनकी मान्यता है कि 'कविता या रचना मूलत: व्यक्तिपरक होती है।' वह व्यक्तिपरक नहीं रहती तो उसकी सामाजिकता भी संदिग्ध हो जाती है। 'घृणा, क्रोध और प्रतिहिंसा की मन:स्थिति मनुष्य के शरीर में एक जैविक परिवर्तन उपस्थित करती है। उसका रक्त संचार बढ़ जाता है, नाड़ी की गति तेज हो जाती है, आवाज तीखी और चेहरा बदरंग हो जाता है।' इसका असर उसकी वाणी पर भी पड़ता है। प्रतिहिंसा की भाषा चोट पहुँचाती है, प्रहारक होती है, इसीलिए वह श्रेष्ठ रचना में रूपान्तरित नहीं हो पाती। बेहतर मनुष्य बनाने में वही भाषा कारगर हो सकती है जो मनुष्य के मर्म को छू सके। ऐसी भाषा मन को स्थिरता देती है, पढ़ने वाले को अपने भीतर झाँकने की प्रेरणा देती है।

रचनात्मक साहित्य रचनात्मक इसलिए होता है कि 'वह भावदीप्त सत्य का संवाहक

है।' यथार्थ को राग से पकड़ना, उसे अनुभूति का विषय बनाना और अस्तित्व की गहराइयों से प्राप्त भाषा से उसे व्यक्त करना–यही रचना की विशिष्ट प्रक्रिया है।' जिसे हम कालजयी साहित्य करते हैं, उसके और भी नाम हो सकते हैं, जैसे क्लासिक। विश्वनाथ जी लिखते हैं–'क्लासिक के छह-सात अर्थ यूरोपीय साहित्य में मिलते हैं। इनमें से कालजयी होना भी एक अर्थ माना जा सकता है। यह हिन्दी का अपना शब्द है। इसके जो गुण बताए गये हैं, वे क्लासिक में हो सकते हैं। कुछ नहीं भी मिल सकते हैं, जैसे–अहिंसा और आनृशंस्य। विश्वनाथ जी शील, शान्ति, अहिंसा और आनृशंस्य को शक्ति, सत्ता और हिंसा की तुलना में महत्तर साहित्य का उपकारक मानते हैं। वे साहित्य का स्वभाव बेहतर समझते हैं। उनका कहना है कि एक महान व्यक्ति ही महान साहित्य लिख सकता है। महान रचना के लिए रचयिता को भी महान बनना पड़ता है। महान का अर्थ समाधिस्थ। महान रचना समाधिस्थ चित्त से ही सम्भव है। ऐसा चित्त पूर्णत: सात्विक होता है। प्रतिक्रिया का, आत्मलिप्त का, उत्तेजना का, भावुक रुदन या काल्पनिक क्रान्ति का फार्मूलाबद्ध लेखन महान नहीं हो सकता। श्रेष्ठ सर्जकों में अहंकार नहीं, एक बुनियादी विनम्रता और कृतज्ञता होती है।',

'आलोचना के हाशिये पर' के प्रारम्भिक लेखों में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी रचना की एक स्पष्ट धारणा बनाते हैं। प्रकारान्तर से यह निकष-निर्माण का आख्यान या विमर्श है। लेकिन बाद के लेखों में अधिकांश में उनका आलोचक एक रणनीति के तहत सक्रिय है। वह पूरी प्रखरता और तर्क कौशल से अपने समय के रचनाद्रोही गुटबाजों की खबर लेते हैं। डॉ. नामवर सिंह हों या राजेन्द्र यादव, उनके प्रातिभ लेखन और पांडित्य से हिन्दी समाज लम्बे समय तक अभिभूत रहा है, किन्तु कालान्तर में उनकी सृजनात्मकता स्थगित और व्यक्तित्व अन्तर्विरोधों का समुच्चय बनकर रह गया है। विश्वनाथ जी उनके अन्तर्विरोधों को साहस के साथ बेनकाब करते हैं। कई दशक पहले डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र ने 'महाबली का पतन' लिखा था। लेकिन विश्वनाथ जी के नामवर-विखण्डन के सामने वह नगण्य है। इसमें लेखक ने विखण्डन के आलम्बन के समस्त अर्जित अस्त्रों का अधिक कुशलता से उपयोग किया है। ऐसे लेख बड़ी तैयारी की माँग करते हैं। रामविलास जी के निधनोपरान्त 'आलोचना' पत्रिका का नामवर जी के सम्पादन में जो विशेषांक निकला वह विचारधारा के साथ ही उसके संवाहकों की कट्टरता का नमूना बनकर रह गया। यह नहीं कि विश्वनाथ जी रामविलास शर्मा के समर्थक या अनुयायी हैं, लेकिन उनकी नैतिकता को याद करते हैं, वे हर छोटे-बड़े साहित्यकार से नैतिक आचरण की अपेक्षा करते हें। 'हंस' सम्पादक के 'छलात्कार' को उन्होंने इसी कसौटी पर बेनकाब किया है।

आज के साहित्यिक परिदृश्य पर नजर डालें तो दलित विमर्श और स्त्रीवादी अतिरेक के परिप्रेक्ष्य को नजरअन्दाज करना सम्भव नहीं है। विश्वनाथ जी दलित साहित्य को दलित राजनीति का अनुचर मानते हैं। यही बात स्त्रीवादी लेखन के बारे में भी कही जा सकती है। सोवियत संघ के विघटन के पीछे तानाशाही की खल भूमिका रही है। सोवियत व्यवस्था वस्तुत: साम्यवादी नहीं थी। विश्वनाथ जी ने खुद जाकर उस व्यवस्था के नारकीय स्वरूप को देखा है। इसका यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि लेखक अमेरिकी नीतियों का प्रचारक या समर्थक है। उसने 'गाँधी की प्रासंगिकता' लिखकर 'स्वदेशी' का पक्ष प्रस्तुत किया है। बल्कि उसे हम 'हिन्द स्वराज' के पक्ष में बोलते हुए सुन सकते हैं। विकास का जो मॉडल आज प्रचारित किया जा रहा है, उसे विश्वनाथ आत्मनिर्भरता के गाँधीवादी नजरिये से पूरी तरह खारिज कर देते हैं। उनकी दृष्टि में,–मनुष्य का समग्र विकास ही श्रेय है। 'प्रगति का अर्थ है–'मनुष्य का समग्र विकास। वस्तुओं की नहीं, आन्तरिक मूल्यों की समृद्धि।' गाँधी जी आखिरी आदमी के साथ खड़े थे। उन्होंने कहा था,–'जब कभी तुम्हारे मन में शंका पैदा हो या तुम अपना ही अधिक विचार करो, तब यह कसौटी अपने सामने रखो। जिस गरीब से गरीब और दुर्बल से दुर्बल मनुष्य को तुमने देखा हो, उसका चेहरा याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम तुम उठाने जा रहे हो, वह उस मनुष्य के लिए किस प्रकार उपयोगी होगा।' रचनाकार की प्रतिबद्धता या पक्षधरता का यही मतलब है। मौजूद विकास इस आधार संरचना को भूलकर एक नये कर्मकाण्ड का प्रतिरूप होकर रह गया है।

'आलोचना का हाशिया' यहाँ हाशिये पर के चिन्तन और सर्जक को आलोचना का केन्द्रीय विषय बनाने और मानने के आग्रह के साथ लिखा गया है। कहना चाहिए, आलोचना का यह हाशिया ही हिन्दी आलोचना का सही रूप है, वास्तविक तेवर है। आधार संरचना से मुँह चुराकर अधिसंख्य आलोचकों ने स्वयं अपने कर्तव्य-कर्म से मुँह चुराया है। 'भँवर में आलोचना' शीर्षक इस किताब के पन्द्रहवें लेख से आलोचना की मौजूदा हालत का पता चलता है। वह खस्ताहाल है, अविश्वसनीय हो गयी है, एकदम से दिवालिया। और, उसका यह हाल किया है दिल्ली ने। 'आलोचना की नाव भँवर में हैं'–इस स्थापना वाक्य को स्पष्ट करने के लिए विश्नाथ जी मुख्य रूप से मार्क्सवादी आलोचना के अन्तर्विरोधों पर ही विचार करते हैं। उसकी कट्टरता और तथाकथित प्रतिबद्धता को उन्होंने बुद्धि की मुक्तावस्था का शत्रु समझा है।

इस किताब के अन्तिम लेख 'पाठक, आलोचक और रचनाकार से' में एक जगह कहा गया है,–'सबसे अच्छी आलोचना वह होती है, जो पाठक की आलोचनावृत्ति को

सक्रिय करती है, उसकी सोयी हुई आलोचनात्मक चेतना को जगाती है, उसे विस्तृत करती है, उसे बहुआयामों में ले जाती है। वह पाठक की आलोचनात्मक जिज्ञासा को तुष्ट नहीं करती, तीव्र करती है, व्याख्या और विश्लेषण के द्वारा उसका अन्तिम रूप से समाधान नहीं करती, बल्कि कुछ प्रश्न छोड़ जाती है।' (प्र. 230) इससे स्वयं विश्वनाथ जी के आलोचना-कर्म की आकांक्षा उजागर होती है। हिन्दी साहित्य के विकास में व्यावसायिकता सबसे बड़ी बाधा है। उसमें रचनाकारों का लालच और अवसरवाद आत्महंता है। 'साहित्य की दुनिया में बन्धक नहीं बनाये जाते। यह मुक्ति का क्षेत्र है। यहाँ स्वयं अपनी आँख से देखने और निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए प्रेरित किया जाता है।' विश्वनाथ जी 'दस्तावेज' साहित्यिक त्रैमासिक के माध्यम से पिछले तीन दशकों से लगातार यही कर रहे हैं।

कहना न होगा कि इस किताब की अधिकांश सामग्री 'दस्तावेज' के सम्पादकीय-लेखों के रूप में पहले ही पाठकों तक पहुँच चुकी हैं लेकिन यहाँ इकट्ठे पढ़ने का लाभ और सुअवसर है। पानी सिर तक आ चुका है। अब न सँभले तो कब सँभलोगे, सुधरोगे? यह आलोचना की एक अच्छी किताब है, जो बाँधती नहीं, मुक्त करती है, अपनी आँख से देखने और अपनी समझ को लिखने-कहने की प्रेरणा देती है। इसका गद्य हिन्दी भाषा की समकालीन उन्नत संरचना का उदाहरण है। उसमें स्वाधीन मनुष्य के चिन्तन की व्यवस्था है और उसके त्याग और तप से वह सतेज हुआ है।

आलोचना के हाशिये पर/ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी/ नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2/35, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
मूल्य : 250 रुपये

हिंदी विभाग, लंगट सिंह कॉलेज, अंबेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)

डायरी

कहाँ का दाना-पानी?

उमा शंकर चौधरी

पिछले दिनों हिन्दी में कुछ ऐसी पुस्तकें आईं जिन्हें किसी एक निश्चित विधा के घेरे में समेटना मुश्किल है। विधाओं का अतिक्रमण करती ये पुस्तकें इस सन्दर्भ में दिलचस्प हैं कि ये चर्चित ही नहीं रहीं, आम पाठकों के द्वारा खूब पढ़ी और सराही भी गईं। शायद विधाओं की मुक्ति के छन्द ने इन पुस्तकों को रोचक, दिलचस्प और व्यापक स्तर पर पठनीय बनाया। अखिलेश की पुस्तक 'वह जो यथार्थ था' यथार्थ के भीतर और बाहर अपने तरह का एक नया प्रयोग था। विश्वनाथ त्रिपाठी का 'नंगातलाई का गाँव' और काशीनाथ सिंह का 'काशी का अस्सी' पुस्तकें भी विधाओं का अतिक्रमण करती हैं। रसूल हमजातोव की पुस्तक 'मेरा दागिस्तान', जब हिन्दी में प्रकाशित हुई तो उसने गद्य के नये फॉर्म और शैली के कारण गद्य का एक

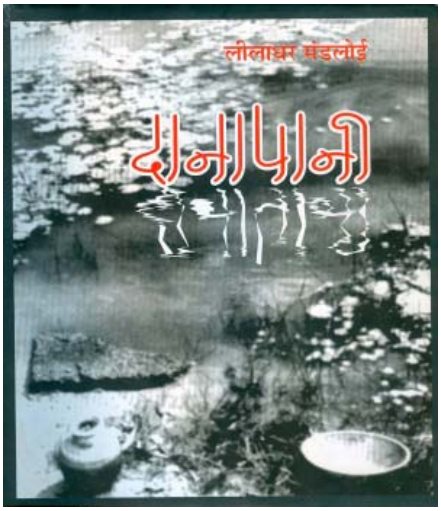

नया वैश्विक आस्वाद दिया। विधाओं का आपसी अदान-प्रदान के बीच लेखक का अपने को विधाओं की परिधि के बाहर खोलना पाठक और लेखक के बीच एक खास तरह की आत्मीयता और रागात्मकता पैदा करती है और शायद यही वह कारण है कि इस तरह की पुस्तकें आम पाठकों के दिल के करीब अनायास पहुँच जाती हैं। प्रकाशकीय प्रतिबद्धता के कारण ऐसी पुस्तकें संस्मरण, आत्मकथा, उपन्यास और फिर डायरी कहकर छापी जाती हैं, लेकिन सच यह है कि ये पुस्तकें किसी भी एक विधा में अँटती हुई नहीं दिखती हैं। सुपरिचित कवि लीलाधर मंडलोई की नई पुस्तक 'दाना-पानी' भी इसी तरह की एक अनोखी पुस्तक है। अनोखी

इस अर्थ में कि इसमें एक गजब की आत्मीयता, रोचकता और पठनीयता है।

डायरी विधा से यूँ एक जो सबसे न्यूनतम अपेक्षा होती है वह यह है कि उसमें तारीख-दर-तारीख की दिनचर्या हो। यानि लेखक के जीवन की छोटी-छोटी घटनाएँ। अभी पिछले दिनों दूसरी भाषाओं से हिन्दी में इस तरह की दो डायरियाँ छप कर आयीं। इनमें एक प्रभात रंजन द्वारा अनूदित पुस्तक ऐने फ्रांक की डायरी है-'एक किशोरी की डायरी'। दूसरी प्रभा खेतान द्वारा अनूदित 'सोफिया तोल्स्तोया की डायरी' है। इन डायरियों में तिथि, दिन, महीना, सन् का उल्लेख है। और एक क्रम है। वैसे हिन्दी में डायरी लिखने की कोई खास परम्परा नहीं रही है, लेकिन आचार्य शिवपूजन सहाय, त्रिलोचन और मलयज के अतिरिक्त अन्य साहित्यकारों की डायरियाँ प्रकाशित हैं।

'दाना-पानी' को यद्यपि प्रकाशक ने डायरी कहकर प्रकाशित किया है। लेकिन यह तिथिहीन है। इसमें कविताएँ भी हैं, आत्मकथा भी है, संस्मरण भी, समाज की चिन्ताएँ भी और डायरी भी। 'अपनी बात' में मंडलोई लिखते हैं-'अत: आप इसे मेरी सिहरनों का परिणाम भी मान सकते हैं। टुकड़ों-टुकड़ों में लिखी जीवन और समाज की कुछ छवियाँ। भाषा के निरायास शिल्प में। यह डायरी अगर डायरी की परिभाषा में न अँटे तो मुझे माफ करें।' महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि यह क्या है, महत्त्वपूर्ण यह है कि कैसी है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि 'काशी का अस्सी' उपन्यास है तो इसमें बने-बनाए शिल्प के अनुसार एक सुदृढ़ कथानक क्यों नहीं है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि 'दाना-पानी' डायरी है तो इसमें तिथि क्यों नहीं है। यह महज संयोग नहीं है कि भारतेन्दु युग के समय जब यह देश साम्राज्यवाद के चंगुल में था तब गद्य की अनेक विधाओं की शुरुआत हुई। महत्वपूर्ण बात यह है कि आज जब एक बार फिर वैश्वीकरण बाजारवाद के सहारे 'नव साम्राज्यवाद' के छद्म वेश में देश पर मँडरा रहा है तब स्वाभाविक है साहित्य की अनेक विधाएँ आपस में टकराएँ, यथार्थ को अन्वेषित करने के लिए। प्रतिरोध की आग से भरा लेखक विधाओं की सीमा को नहीं

पहचानना चाहता। यह बहुत बड़ा कारण है कि इस तरह की सभी पुस्तकों में इस साम्राज्यवाद के बरख्श एक लोकेल को खड़ा करने की कोशिश की गई है। एक परम्परा, एक लोक-जीवन। यह साम्राज्यवाद के खिलाफ एक सांस्कृतिक विमर्श है।

'दाना-पानी' छ: खण्डों में विभाजित एक ऐसी पुस्तक है जहाँ समाज का दु:ख ही नहीं है वह सब कुछ है जो जीवन के यथार्थ से जुड़ा हुआ है। एक संवेदनशील लेखक के द्वारा समाज का देखा गया दु:स्वप्न भी। पुस्तक में कोई सिद्धान्त नहीं है, कोई राजनीतिक पतनशीलता का रोना नहीं है। इसमें बस वह आम आदमी हैं जो रघुवीर सहाय के यहाँ कभी रामदास के रूप में कभी फटा सुथन्ना पहने हरचरना के रूप में है। विभिन्न शीर्षकों से यह पुस्तक भीतर की विषयवस्तु खोलती है। 'दीमक का घर' पहला खण्ड है। इस घर में दीमक लग गया है जो इसे धीरे-धीरे भीतर से खाए जा रहा है। भाषा पर अंग्रेजीयत का कब्जा है। 'कोई मेरा नाम सही-सही नहीं पुकारता...। बाजार के लोग तो मेरा नाम अंग्रेजी में पुकारते हैं, जो मेरा बिल्कुल नहीं...।' भाषा की मार्फत अपनी पहचान का खोना, अस्मिता का संकट है जिसे समझा नहीं जा पा रहा है। भाषा के सहारे पूरा अमेरिका घर कर रहा है। पूरी अमेरिकी मानसिकता। लेकिन सब धीरे-धीरे सहज स्वीकार्य हो रहा है। 'कैसा समय है यह कि नहीं उठाता कोई सवाल? अभी तो बच्चे नहीं हुए काम-धाम के लायक और छँटनी की आशंका में डूबे लोग।' चिन्ता है कि कोई सवाल नहीं पूछता। सवाल नहीं पूछना, मतलब आदमी का ठण्डा पड़ जाना। ठण्डा पड़ जाना मतलब सपनों का मर जाना।

पाश ने ठीक कहा 'सबसे खतरनाक है सपनों का मर जाना।' यहाँ लेखक की चिन्ता है कि 'सोचता हूँ तो अँधेरा सबसे पहले आ खड़ा होता है।' आगे 'वह चाहता है कि मैं सोचूँ तो बस अमरीका के बारे में।'

पुस्तक 'दाना-पानी' में आज के मनुष्य के उन सरोकारों की फिक्र की गयी है जिसने इस समाज को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल किया है। बाजार, जातिवाद, सम्प्रदायवाद ये वे मुद्दे हैं। यान्त्रिक विकास ने मनुष्य को कितना मशीनी बनाया और भीतर की ऊष्मा को कितना मारा है, यह चिन्तनीय है। 'कितना बड़ा सुकून है कि मोबाइल बन्द। सिर्फ इस एक की मुक्ति से मैं कितना अपने में हूँ। हाथ को हाथ। बर्फ को बर्फ। दुख को दुख। दोस्त को दोस्त की तरह अनुभव कर सकता हूँ। पहली बार जाना कि कितना अलग, कितना सगामन है अनिल।' यह अनिल, अनिल जनविजय है। मास्को के इस दृश्य में मंडलोई मोबाइल के बन्द होने से अनिल जनविजय के बदले रूप को पाते हैं। हैरानी की बात यह है कि दो मित्रों के बीच की ऊष्मता को छीन रहा है यह यान्त्रिकीकरण। यही कारण है कि लिखना पड़ा है–'ऐसा क्यूँ लगता है कि जैसा होना चाहिए वैसा नहीं बचा कुछ भी।...कुछ है जो भीतर टूट रहा है...लगातार।' लेकिन इस टूटने का कारण सिर्फ विदेशी या सिर्फ यान्त्रिकीकरण या सिर्फ वैश्वीकरण नहीं है।

मंडलोई ने एकदम शुरूआत में इसे ठीक ही टुकड़ों-टुकड़ों में लिखी जीवन और समाज की कुछ छवियाँ कहा है। चिन्ताएँ कई हैं। फिक्र बहुत हैं। किसी भी एक फिक्र पर रूकने का मतलब है एकांगी होना। किसी एक विधा में सीमित नहीं होने का कारण भी यही है। यह जो वक्त है वह कठिन है। कठिनाई पैदा करने वाले बहुत हैं और कठिनाई सहने वाले सिर्फ आम आदमी। समाज के एक ऐसे स्वरूप को गढ़ने की कोशिश की जा रही है जिससे समाज पीछे छूटता जा रहा है। समाज की इन दरारों को देखकर आहत होने वाले साहित्यकार जरूरी भी है और महत्त्वपूर्ण भी। मंडलोई इन दरारों को देखते हैं और उन पीड़ितों के साथ खड़े होकर दुखी होते हैं। 'कौन चाहता है रोना। वे भी नहीं जिनका पुश्तैनी धँधा है यह। लेकिन कोई भरोसा नहीं अब। कभी भी किसी को रूलाया जा सकता है।' मंडलोई की भाषा में गजब की सृजनात्मकता है। पूरी पुस्तक में मंडलोई ने अपनी भाषा को लगभग काव्यात्मक रखा है या कम-से-कम एक सिम्फनी यहाँ जरूर उपस्थित है। यह लय एक अजीब तरह की यन्त्रणा पैदा करने में सक्षम होती है। ठोस गद्यात्मक रुप होता तो शायद इसमें थोड़ी कमी आती।

पुस्तक में साम्राज्यवाद के बरख्श एक सांस्कृतिक भारत को खड़ा करने की कोशिश की गयी है। अपनी माँ को याद करते हुए मंडलोई ने कई देशी उपचारों को एक ऊँचाई दी है। जामुन, अमरूद, अनार जैसे फल कैसे बड़े-से-बड़े रोग की छुट्टी कर सकते हैं यह हम अब भूलते जा रहे हैं। यह लोकेल का एक ऐसा रंग है जो हमारी धरोहर है लेकिन जिसे हम तमाम चमक-दमक और विकास के अंध समर्थन में विस्मृत करते जा रहे हैं। जबकि सच यह है कि वास्तविक जीवन इसी में हैं। लोकेल का रंग इस नव-साम्राज्यवाद के खिलाफ छाती ठोककर आज भी खड़ा है। एक वैकल्पिक व्यवस्था, एक वैकल्पिक जीवन के रूप में, आप इसको कम-से-कम बिखरने तो न दें। यह लोकेल आपको इस तरह की सभी पुस्तकों में खड़ा मिलेगा। 'नंगातलाई का गाँव' का गाँव हो या 'काशी का अस्सी' का अस्सी। 'अस्सी' की बैठकें, अस्सी की चाय, अस्सी की गालियाँ, अस्सी का अपना फक्कड़ाना अंदाज इस साम्राज्यवाद के सामने खड़ा है। भले सोवियत संघ के विघटन ने इस पर पूँजीवाद की विजय करा दी। लेकिन हमारी चिन्ता के केन्द्र में यह होना चाहिए कि हम इन्हें क्यों मरने दें। क्यों हावी होने दे पूँजीवाद को इस कदर?

'दानापानी' का अन्तिम खण्ड 'वक्त की बेतरतीब किताब से' में मंडलोई थोड़ा वैयक्तिक हुए हैं। इसमें उन्होंने अपनी माँ, अपने पिता और अपने संघर्ष के दिनों को याद किया है। इसी खण्ड में 'संघर्ष का अद्वितीय स्वाद' शीर्षक से एक संस्मरण है जो अद्‌भुत है। मंडलोई के छात्र-जीवन का संघर्ष। एक गरीब घर का लड़का कैसे अपनी पढ़ाई के लिए भूखे रहता है और कैसे कई दिनों की भूख के बाद 'लप्सी' बनती है। 'लप्सी' मतलब बारिश के सहारे आटे के डिब्बे की दीवार से झड़े एक कटोरी आटे में दो चुटकी नमक। भूखे तीन दोस्तों ने इसे भरपेट खाया और खूब स्वाद लिया। यह एक मार्मिक कथा है। संघर्ष के दिनों में जिन्दा रहने और अपने ख्वाबों को बचाए रखने की एक जद्दोजहद।

विधा के स्तर पर 'दाना-पानी' चाहे कुछ भी हो, लेकिन विषय और पठनीयता के स्तर पर यह बहुत महत्त्वपूर्ण किताब है। चूँकि लीलाधर मंडलोई खुद नफ़ासत वाले व्यक्ति हैं, इसलिए इस किताब की साज-सज्जा बहुत बढ़िया है। 'अपनी बात' में मंडलोई ने लिखा है कि 'वैसे यह सत्य है कि गद्य लिखना मेरे लिए अत्यन्त कठिन है। हर बार गद्य लिखते हुए मैं भय से सिहर उठता हूँ।' कहा इतना ही जा सकता है कि अगर सिहरन से 'दिल का किस्सा' और 'दाना पानी' जैसा गद्य पैदा होता है तब सिहरन जरूरी है। 'दाना पानी' शीर्षक से थोड़ी असहमति हो सकती है। पुस्तक में सिर्फ दाना पानी नहीं है बल्कि समाज की वह चिन्ता है जिसे किया जाना बहुत जरूरी है। पुस्तक का शीर्षक 'लिखे में दुक्ख' जैसा कुछ होता तो ज्यादा बढ़िया होता। 'लिखे में दुक्ख'! कहीं यह लीलाधर मंडलोई का अगला कविता-संग्रह तो नहीं!

दाना पानी/ लीलाधर मंडलोई/ मेधा बुक्स, एक्स-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032/ मूल्य 300 रु.

ए-561/2, शास्त्री नगर, दिल्ली-110052

पिंजरे से बाहर मैना

ज्योति चावला

किसी भी आत्मकथा को पढ़ते या देखते हुए सबसे पहला सवाल जेहन में यह उभरता है कि आत्मकथा क्यों? क्या सोच कर आत्मकथा लिखी जाती है? क्या किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, खासकर साहित्यकार के जीवन और लेखन संघर्षों की स्मृति होती है आत्मकथा या उसके संघर्षों का लिखित दस्तावेज? पिछले कुछ वर्षों में कई महत्वपूर्ण आत्मकथाएँ देखने को मिलीं, और संयोग से सभी आत्मकथाओं की रचनाकार स्त्रियाँ ही थीं, जिनमें प्रमुख हैं–मन्नू भण्डारी की 'एक कहानी यह भी', मैत्रेयी पुष्पा की 'गुड़िया भीतर गुड़िया', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' और सोफिया तोल्स्तॉया की डायरी, जो अनूदित होकर इसी वर्ष 'रचना समय' के माध्यम से हिन्दी में आई है। मैत्रेयी पुष्पा आत्मकथा लिखने में जल्दबाजी-सी करती नजर आती हैं। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' से पहले भी उनकी आत्मकथा का आरम्भिक अंश 'कस्तूरी कुण्डल बसै' प्रकाशित हो चुका है। प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' भी 'हंस' पत्रिका में क्रमशः छपती रही थी, लेकिन उनकी असामयिक मृत्यु ने उनकी आत्मकथा को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया।

आत्मकथा लेखन के लिए सबसे महत्वपूर्ण है अपने प्रति निर्ममता, ईमानदारी और निर्वैयक्तिता। स्वयं को लगभग जला कर और अपने प्रति क्रूर होकर लिखी गई आत्मकथा ही सच्ची आत्मकथा हो सकती है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' आत्मकथाओं की इस शृंखला में एक नई कड़ी जोड़ती है। कुल 416 पृष्ठों की यह बृहत् आत्मकथा चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के जीवन के सभी पहलुओं से पाठकों को रू-ब-रू तो कराती ही नहीं है, परोक्ष रूप से तत्कालीन राजनीति और समाज में घट रही घटनाओं की ओर भी इशारा करती है। ताज्जुब की बात यह है कि 82 वर्षीया लेखिका को इतनी सब बातें ईसवीं सन के साथ कैसे स्मरण रही होंगी! सन् 1857 के विद्रोह की कथा चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने कभी अपने पारिवारिक जनों से सुनी होगी, उस विद्रोह में क्या कुछ घटा, उसका वर्णन भी है। और साथ ही साथ उन्होंने वणिकों की व्यापार वृत्ति की ओर भी संकेत किया है।

आत्मकथा किसी व्यक्ति की आपबीती ही नहीं होती, जगबीती भी होती है; यह लेखिका ने दिखा दिया है। पूर्व चर्चित लगभग सभी आत्मकथाओं में यद्यपि अपने समय के झूठ-सत्य हैं, लेकिन कहीं-न-कहीं ऐसी आत्मकथाओं में आत्म प्रवंचनाएँ भी कम नहीं। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा जहाँ स्त्री मुक्ति की आड़ में देह मुक्ति की बात अधिक करती है, छल-प्रपंच के साथ, प्रभा खेतान की आत्मकथा की स्त्री दूसरी स्त्री के घर को उजाड़कर उस पर अपने महल खड़े करने के ख्वाब देखती है, वहीं चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा निश्छल अभिव्यक्ति-सी दिखाई देती है। तथ्यों को दबाने-छिपाने के लिए कहीं भी भाषा के कौशल का प्रयोग करती चन्द्रकिरण दिखाई नहीं देती। यह बड़ी बात है।

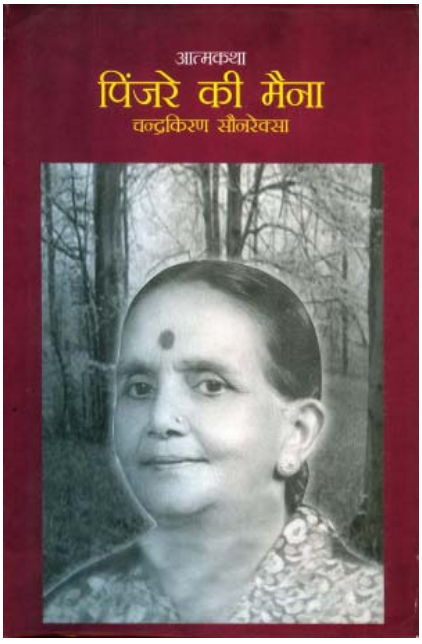

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा भारत के पहले स्वतन्त्रता संग्राम 1857 से शुरू होकर, भारत में आर्य समाज की लहर, असहयोग आन्दोलन, भारत पाक विभाजन, आजादी, सन् 1962 में चीन के हमले से लेकर 2001 तक के विशाल फलक को एक साथ समेटती है। मन्नू भण्डारी की आत्मकथा भी एक बड़े फलक को समेटती है, लेकिन मन्नू जी की पृष्ठभूमि इतनी बड़ी नहीं है। मैत्रेयी पुष्पा तो अपने घर-संसार में सिमट जाती है।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय में भारत में आर्यसमाजी संस्कारों का बोलबाला था। कई परिवारों और समाजों ने आर्य समाज धर्म ग्रहण कर लिया था। मन्नू भण्डारी की आत्मकथा पढ़ते हुए भी इसके प्रमाण मिलते हैं। मन्नू जी भी लिखती हैं कि पिता के आर्य समाजी होने के कारण उन्हें जैन धर्म की संस्कारवादिता को नहीं झेलना पड़ा। वे बैठकर घण्टों जैन सध्वियों से बहस करतीं। पिता अपनी राजनीतिक बहसों में उन्हें शामिल करते, जिसके चलते उनका मानसिक विकास हुआ। चन्द्रकिरण के यहाँ भी इस तरह का माहौल था। आर्यसमाजी पिता के चलते उन्हें भी घर में मुक्त परिवेश मिला। उन्होंने चरखा चलाना सीखा, खद्दर पहनी, यहाँ तक कि महात्मा गाँधी तथा अन्य स्वतन्त्रता सेनानियों पर कई गीत भी लिखे। लेकिन एक स्थान पर

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा मन्नू भण्डारी से अलग हो जाती है। उन्हें सदैव घर का मुक्त माहौल मिला, वहीं पहले माता की मृत्यु तथा कुछ वर्षों बाद पिता की मृत्यु ने अचानक चन्द्रकिरण से यह स्वतन्त्रता छीन ली। पिता के संरक्षण में जैसी स्वतंत्रता थी, बड़े भाई के संरक्षण में नहीं रही। सभा-गोष्ठियों में खड़े होकर क्रान्ति के गीत गाना परिवार की नज़र में जवान होती बहन के लिए आपत्तिजनक था। ग्यारह वर्ष की उम्र में दलित लड़के को केन्द्रित करके 'अछूत' कहानी लिखने वाली चन्द्रकिरण की 13 साल की उम्र होते-होते पढ़ाई छुड़वा दी गई। लेकिन चन्द्रकिरण ने हार नहीं मानी और घर बैठे ही साहित्य सम्मेलन द्वारा आयोजित परीक्षा दी और अच्छे अंकों में उत्तीर्ण हुईं। और स्वाध्याय से ही बांग्ला, उर्दू, गुजराती व गुरुमुखी भाषाएँ सीखीं।

चन्द्रकिरण का लेखन महत्त्वपूर्ण रहा, यह तो सच है, लेकिन उनका लेखन बाधित हुआ, इसके पीछे क्या कारण रहे। चन्द्रकिरण लिखती हैं कि पति और परिवार की अति जिम्मेदारियों के चलते उनके लेखन पर भी प्रभाव पड़ा। यहाँ वह बताना आवश्यक है कि 'विचार' पत्र के उपसम्पादक, नवोदित लेखक तथा पत्रकार कान्तिचन्द्र सौनरेक्सा से चन्द्रकिरण का विवाह लगभग स्वेच्छा से हुआ था। लेकिन स्वेच्छा से हुए इस विवाह में पुरुष सम्बन्ध पर हावी रहा, जिसका खामियाजा लेखिका को भुगतना पड़ा। अपनी आत्मकथा में चन्द्रकिरण कम-से-कम तीन औरतों से कान्तिचन्द्र के विवाहेतर सम्बन्धों का उल्लेख करती हैं। लेकिन हैरानी मिश्रित दुख इस बात पर होता है कि चन्द्रकिरण के स्वर में शिकायत कहीं नजर नहीं आती। यहाँ वे शायद परिस्थितियों को ज्यादा आसानी से स्वीकार कर लेती हैं, या फिर हिन्दू समाज में पुरुषों को एक से अधिक विवाह की अनुमति होने के चलते स्त्री अधिकार जैसा कोई मुद्दा उन्हें नजर नहीं आता। 'हिन्दू मैरिज एक्ट' उस समय तक पारित ही नहीं हुआ था। हर बार पुरुष द्वारा मानसिक प्रताड़ना झेलती यह स्त्री एक बार उसे छोड़ने का फैसला ले कर भी अगले ही क्षण वापस लौट आती है। विडम्बना की बात यह है कि उसकी चिन्ता के केन्द्र में वह स्वयं नहीं अपितु पति और उसकी सरकारी नौकरी है।

किसी भी अच्छी आत्मकथा की यह विशेषता होती है कि उस आत्मकथा के माध्यम से आप सीधे उस समय में उतर जाते हैं, जिन्हें आपने इतिहास अथवा साहित्य के इतिहास में पढ़ा होगा। इतिहास चाहे कितना ही ज्ञानवर्धक तथा तथ्यपरक क्यों न हो, उसे पढ़ना उतना ही बोझिल है। लेकिन आत्मकथा उसी इतिहास को किस्से-कहानी की तरह आपके सामने खोलकर रख देती है, और वह किसी उपन्यास या कहानी की तरह कल्पनामिश्रित नहीं होती, इसलिए उसकी प्रामाणिकता भी बनी रहती है। जर्मनी का इतिहास चाहे जितना बोझिल हो, हिटलर की आत्मकथा 'मेन कैम्फ' पढ़ना तत्कालीन जर्मनी के इतिहास को जानना कहीं ज्यादा रोचक और सरल हो सकता है। चन्द्रकिरण की आत्मकथा भी तत्कालीन साहित्य जगत की हलचलों को जीवित प्रसंगों तथा जीते-जागते चरित्रों में बदल देती है। जिस यशपाल, अश्क, सुभद्राकुमारी चौहान, शिवदान सिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा को हमने उनकी रचनाओं के माध्यम से जाना, वास्तव में वे कैसे थे, इन साहित्यिक हस्तियों के बीच के सम्बन्ध कैसे थे, ये साहित्यिक पूर्वज भी लड़ते-झगड़ते, बोलते-बतियाते होंगे, सोचकर ही कितना सुखद लगता है।

वैवाहिक जीवन में छह बच्चों का जन्म और पाँच का पालन-पोषण करने वाली चन्द्रकिरण सामाजिक, नैतिक और आर्थिक दृष्टि से परिवार का सम्बल बन कर सदैव खड़ी रहीं। चारित्रिक दुर्बलता के चलते पति की प्रतिष्ठित सरकारी नौकरी छूटने के बाद भी वे परिवार के लिए हर स्थिति में सहारा बनी रहीं लेकिन अत्यधिक पारिवारिक दबाव तथा पति की शंकालु-प्रवृत्ति के चलते उनका लेखन पीछे छूटता चला गया। चन्द्रकिरण को हर कदम पर यह दर्द सालता रहा।

समाज के शोषित एवं दलित वर्ग का दर्द उनके द्वारा अभिव्यक्त की गई आपबीती से छनकर बाहर आता है। भारत के सन्दर्भ में दलित विमर्श इसका उदाहरण है। शरणकुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' और सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' तक दलित-विमर्श की एक पूरी वैचारिक तैयारी होती है। अब दलित लेखिका सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा हिन्दी दलित विमर्श को एक नया आयाम देती है। दूसरे शब्दों में कहें तो यही दलित विमर्श का उपजीव्य है। उसी प्रकार स्त्रियों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएँ भी स्त्री-विमर्श का आधार तैयारी करती हैं। किन्तु इसमें भी एक फाँक देखी जा सकती है। जहाँ रमणिका गुप्ता की 'हादसे' तथा मैत्रेयी पुष्पा की दोनों आत्मकथाएँ स्त्री मुक्ति के माध्यम से देह मुक्ति की बात करती है, जिनकी आदर्श अप्रत्यक्षत: तसलीमा नसरीन हो सकती है, वहीं एक पूरा वर्ग स्त्री मुक्ति को स्त्री सशक्तीकरण के अर्थ में देखने की कोशिश करती हैं। मन्नू भण्डारी, प्रभा खेतान की आत्मकथाएँ इसके उदाहरण है। चन्द्रकिरण की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' स्त्री अधिकारों के सवाल खुद तो कम उठाती है, पाठकों को अधिक प्रेरित करती है। घर में दिन-रात 'अतिथियों' का स्वागत करती और परिवार का पालन-पोषण करती चन्द्रकिरण का लेखन प्रभावित होता है, चन्द्रकिरण का प्रतिरोधी स्वर लगभग कहीं नहीं रहा परिस्थितियों के आगे घुटने टेकती जाती सौनरेक्सा वर्तमान स्त्री का आदर्श नहीं हो सकतीं, लेकिन भारतीय सामंती समाज में एक प्रतिभा सम्पन्न स्त्री के अँधेरे में खोते जाने के सच को वे उजागर अवश्य करती है, और यहाँ पर स्त्री के सन्दर्भ में उसका सशक्तीकरण देह मुक्ति से कहीं ज्यादा जरूरी लगता है।

'पिंजरे की मैना' जैसी आत्मकथा की लेखिका होते हुए भी वे विचारों से प्राचीन रूढ़िवादी महिला ही लगती हैं। पति के विवाहेतर सम्बन्धों पर पर्दा डालने से लेकर दुर्घटना में एक व्यक्ति की जान ले लेने पर भी वे उसकी विधवा को पैसे देकर सारा मामला निपटा देती हैं। चाहे समय कितना भी प्राचीन क्यों न हों, वह लेखिका ही क्या, जो अपने समय की कुरीतियों और बुराइयों पर उँगली न रख सके। पति के सन्दर्भ में वे वैचारिक कम और रूढ़िवादी स्त्री ही अधिक लगती हैं।

परिवार के लिए स्वयं को होम कर देने वाली चन्द्रकिरण जैसी लेखिका साहित्य के क्षेत्र में तो अब तक लगभग उपेक्षित ही

रहीं। चन्द्रकिरण लिखती भी हैं कि ''तेरह वर्ष की उम्र से आज तक, जितना लेखन कार्य मैंने किया है, उसका पचास प्रतिशत भी अगर समग्र रूप में उपलब्ध होता, तो आज मैं भी राज्यसभा की मनोनीत सदस्य होती; अकादेमी की अवैतनिक अध्यक्ष होती।'' (पृष्ठ 391)। यह कथन तो भावावेश में कहा गया अधिक लगता है। लेकिन अपनी आत्मकथा से पुनर्प्रकाशन में आने वाली इस लेखिका से नई पीढ़ी को मिलने का अवसर ही नहीं मिलता है, इनके प्रति श्रद्धा भी उत्पन्न होती है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह उपन्यास या कहानी न होकर निरी आत्मकथा ही लगती है। यानी अधिक तथ्यपरक, अधिक तटस्थ, रोचक। कश्मीर पर कबाइलियों का हमला, साहित्यकारों का सामाजिक गतिविधियों में हिस्सा लेना, ये सभी जानकारियाँ सच्चाई के साथ-साथ ही साहित्यिक गुण भी लिए हुए हैं। चन्द्रकिरण की भाषा में स्वाभाविक प्रवाह है, आत्मकथा के क्षेत्र में 'पिंजरे की मैना' अपना एक स्थान बनाती है। चन्द्रकिरण के जीवन संघर्षों और उड़ पाने की क्षमता रखते हुए भी उड़ न पाने की विवशता के चलते शीर्षक सार्थक बन पड़ा है। लेखिका ने आत्मकथा को दो हिस्सो- पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित किया है। लेखिका द्वारा किया गया यह विभाजन बहुत जरूरी नहीं जान पड़ता। इसके बिना भी काम चल सकता था। यह दुखद बात है कि विश्व के महान लेखकों की आत्मकथा से अपरिचित हम आत्मकथा लिखते हैं। अपने को खोलने से ज्यादा बंद करते हुए।

पिंजरे की मैना/ चंद्रकिरण सौनरेक्सा/ पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-2/ मूल्य : 460 रु.

561/2, शास्त्री नगर, दिल्ली 110052

निबंध

हिंदी का पक्ष : नए अंदाज में

मस्तराम कपूर

ऐसे मौसम में जब हिन्दी का नाम सुनते ही लोग कन्धे उचक कर चल देते हों, हिन्दीभाषी परिवारों के बच्चे हिन्दी की गिनती का अर्थ माँ-बाप से अंग्रेजी में पूछते हों और हिन्दी राज्यों के नेता हिन्दी के अलावा कोई भाषा न जानते हुए भी बच्चों को पहली कक्षाओं से अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ाने की वकालत करते हों, हिन्दी के पक्ष में बात करने वाला या तो कोई जिहादी होना चाहिए या अत्यंत संवेदनशील व्यक्ति। पंकज बिष्ट के साथ ये दोनों विशेषण जुड़ सकते हैं। वे इस मायने में जिहादी हैं कि झूठ और पाखंड के खिलाफ, चाहे वह किसी भी क्षेत्र का हो, उन्होंने जिहाद छेड़ रखा है। 'समयांतर' पत्रिका के माध्यम से भी और अपने अन्य लेखन के माध्यम से भी। यह जिहाद उन्होंने हिन्दी की

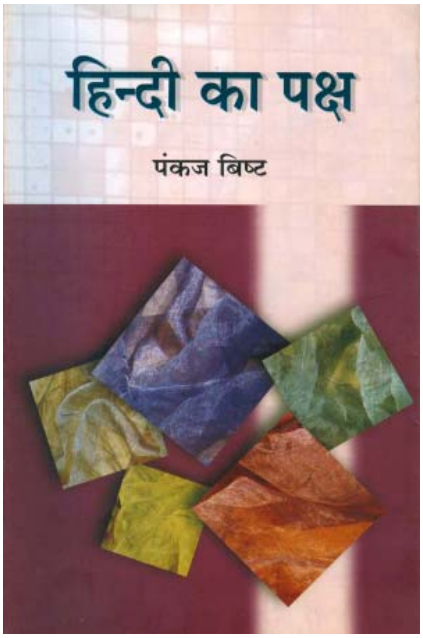

संस्थाओं, मठो, गढों तथा उनके अधीशों के खिलाफ भी चला रखा है फिर भी वे हिन्दी के पक्ष में खड़े हैं, इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। उनकी पुस्तक 'हिन्दी का पक्ष' समय-समय पर लिखे गए उनके हिन्दी सम्बन्धी लेखों का संग्रह है। 'हिन्दी-सम्बन्धी' शब्दों का कोई यह अर्थ न ले कि यह हिन्दी की जयजयकार करने, उसकी आरती उतारने या उसे भारत की सब भाषाओं की महारानी सिद्ध करने के उद्देश्य से लिखे गए हैं। इसके विपरीत इन लेखों का लक्ष्य है उनकी खाट खड़ी करना जो हिन्दी के नाम से मुफ्त की रोटियाँ तोड़ते हैं, ऊँचे वेतन, पद और पुरस्कार प्राप्त करते हैं, हिन्दी की बड़ी-बड़ी दुकानें चलाते हैं, अखिल भारतीय सम्मेलन का विश्व सम्मेलन आयोजित करते हैं लेकिन हिन्दी के

साथ विश्वासघात करते हैं और हिन्दी भाषी जनता तथा राष्ट्र के हितों की जरा भी परवाह न करते हुए अंग्रेजी की गुलामी को मजबूत करते हैं।

लेकिन हिन्दी के नाम पर लूट मचाने वाले लोगों के प्रति क्रुद्ध दृष्टि अपनाने के बावजूद यह पुस्तक हिन्दी भाषा और उसे बोलने वाले साधारण लोगों की पीड़ा को स्वर देती है और इस प्रक्रिया में वह हमारी ऐसी दुखती रगों को छूती है जिनकी तरफ हिन्दी के मठाधीशों का ध्यान ही नहीं जाता।

'वैश्वीकरण, हिन्दी समाज की जड़ता और समाजविज्ञान' लेख में, जो पुस्तक का सबसे पहला लेख है, इस दर्द को उभारा गया है कि हमारी सरकारें और हमारा शिक्षित मध्यवर्ग वैश्वीकरण के पीछे पागल होकर कैसे अपने देश की जनता के साथ विश्वासघात कर रहा है और साथ ही अपने पैरों पर भी कुल्हाड़ी चला रहा है। लेखक कहता है कि किसी समाज की प्रगति के लिए मात्र-ज्ञान का विकास जरूरी नहीं है उससे भी जरूरी है यह कि जो भी ज्ञान अर्जित किया जा रहा है वह समाज के सभी वर्गों तक पहुँचे, बल्कि उसका उपयोग भी सम्यक हो। हमारे यहाँ सदियों तक तो वर्ण व्यवस्था ने ज्ञान को कुछ जातियों तक सीमित रखा और दो-तिहाई से अधिक आबादी को उसका अधिकार भी नहीं दिया बल्कि स्वयं ज्ञानार्जन करने पर उनका सिर या अगूँठा काटने के दन्ड का विधान भी किया। अब लगभग यही काम वैश्वीकरण की प्रक्रिया से किया जा रहा है। इस वैश्वीकरण ने अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा की बीमारी (पहली कक्षा से ही) महलों से लेकर झोपड़ियों तक फैला दी है। इसका परिणाम कुल मिलाकर हो रहा है अस्सी से पचासी प्रतिशत बच्चों का शिक्षा से वंचित रह जाना और मुश्किल से दो प्रतिशत बच्चों की उच्च शिक्षा क्षेत्र में प्रवेश करना। क्या इसे वर्णव्यवस्था का निकृष्ट रूप नहीं कहा जा सकता है? लेखक ने कुछ डरते-डरते कहा है कि 'कही ऐसा तो नहीं कि हमारी आत्मतुष्ट रहने की पुरानी परम्परा ने हमारे विवेचन और समीक्षा की क्षमता को ही सोख लिया हो।' वास्तव में यह वर्णव्यवस्था का ही सातत्य है जिसके कारण ज्ञान कुछ लोगों तक सीमित हो गया है और इसका लाभ 'जाने-अनजाने वैश्वीकरण की इकतरफा ताकतों को मिला रहा है।'

अंग्रेजी के वर्चस्व के कारण हमारी भाषाएँ मर रही हैं, हमारी संस्कृति मर रही है, हमारी आत्मा मर रही है, हमारी नौजवान पीढ़ियाँ औपनिवेशिक आकाओं के लिए गिरमिटियाओं जैसा कच्चा माल बन कर रह गई हैं। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लेखक एक जगह कहता है: 'हमारे देश के आई आई टी संस्थानों में पढ़े अस्सी प्रतिशत युवा विदेश चले जा रहे हैं। यही हाल एम्स के स्नातकों का है। इससे भी चिन्ताजनक बात यह है कि आज हमारे इन्जीनियरी संस्थानों में शिक्षा पाए छात्र, यही नहीं कि विदेश चले जा रहे हैं बल्कि वे इंजीनियरी का काम छोड़कर माल बेचने का काम करने लगे हैं।''

वैसे तो हमारी सभी भाषाओं के ऊपर अंग्रेजी का बुलडोजर चल रहा है और जो अहिन्दी भाषी क्षेत्र कभी हिन्दी के विरोध और अंग्रेजी के समर्थन के लिए सारे देशों में आग लगाने या भारत संघ से नाता तोड़ने का आन्दोलन चला रहे थे, वे अपनी भाषाओं को मृत्योन्मुख देख धरती पीटने लगे हैं, लेकिन हिन्दी की दशा तो उत्तरोत्तर दयनीय हो रही है। दसवीं की कक्षा में 97.6 प्रतिशत अंक हासिल करने वाली छात्रा को एक अच्छे स्कूल में दाखिला इसलिए नहीं मिला क्योंकि उसका अंग्रेजी का उच्चारण स्कूल वालों को पसन्द नहीं आया। एक लेख में (हिन्दी:अनुत्तीर्ण कौन हो रहा है?) बताया गया है कि सर्वेक्षण के अनुसार माध्यमिक उच्चतर और माध्यमिक कक्षाओं में 50 प्रतिशत छात्र, मातृभाषा हिन्दी होने के बावजूद, हिन्दी में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। इसका कारण है हिन्दी के शिक्षण में हो रही लगातार गिरावट, जिसके लिए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद भी कम जिम्मेदार नहीं है जिसने अपनी पाठ्यचर्या में कक्षा तीन से अंग्रेजी पढ़ाने की सिफारिश की है। पहली कक्षा से अंग्रेजी को अनिवार्यत: पढ़ाने की ज्ञान आयोग की सिफारिश में (जिसे हिन्दी भाषी मुख्यमन्त्रियों ने लपक कर ग्रहण किया है।) यह रियायत एन. सी. आर. टी. की पाठ्यचर्या में इस लिए हुई है कि इसके साथ प्रो. यशपाल और प्रो. कृष्णकुमार जैसे शिक्षाविद् जुड़े हैं। लेकिन क्या यह दयनीय नहीं है कि इन सुलझे हुए विद्वानों को भी सेम पित्रोदा जैसे लोगों के आगे अपनी आस्थाओं से समझौता करना पड़ा? जब सैंया कोतवाल हों तो सैम पित्रादा की क्यों न चलें।

लेखक का एक बहुत बढ़िया सुझाव है कि हिन्दी के साथ रोजगार के अवसर जोड़ने के तरीके अपनाएँ जाएँ यानि चिकित्सा शास्त्र, इंजीनियरी मैंनेजमेन्ट, और आईटी की शिक्षा हिन्दी माध्यम से दी जाए। उनका कहना है कि उत्तर प्रदेश इतना बड़ा राज्य है कि अगर यह हो जाता है तो अंग्रेजी के पक्ष में दिए गए सारे तर्क ढह जाएँगे। वास्तव में ये विषय और गणित आदि शुद्ध विज्ञान भी भारतीय भाषाओं के माध्यम से अधिक सरलता से पढ़ाया जा सकता है। डॉ. लोहिया के अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन के साथ जुड़े विश्वकोटि के वैज्ञानिक सत्येन बोसमी इस से सहमत थे। उन्होंने कलकत्ता में इसका प्रयोग करना भी चाहा था किन्तु वहाँ के अंग्रेज-अंग्रेजी भक्त भद्रलोक के विरोध के कारण इसे बन्द करना पड़ा था। वर्धा के महात्मा गाँधी हिन्दी विश्वविद्यालय में यह प्रयोग शुरू करने का सुझाव इन पंक्तियों के लेखक ने भी दिया था जब विभूतिनारायण राय के कुलपति नियुक्त होने की खबर आई थी।

विचारणीय बात है कि भारतीय भाषाओं के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान के सभी विषयों की शिक्षा के सुझाव का समर्थन करने वाला आज एक भी राजनैतिक दल या राजनेता नहीं है। जिस लोहिया ने कभी यह सवाल उठाया था और पत्थर खाए थे, उसके तथाकथित अनुयायी भी पहली कक्षा से सभी विषय अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने के पक्ष में खड़े हैं। कांग्रेस पार्टी के सर्वोच्च नेता हिन्दी का प्रयोग सिर्फ चुनावी सभाओं में करते हैं चाहे वे नानी याद करा देंगे जैसे रटे हुए वाक्य ही क्यों न हों। अंग्रेजी को हमेशा के लिए हमारी छाती पर बिठाने वाले जवाहरलाल नेहरू ही थे। इस परम्परा को कांग्रेस ने बखूबी निभाया है। भारतीय जनता पार्टी का हिन्दी-प्रेम कितना नकली है, इसका प्रमाण तो यही है कि इसी के राज में अंग्रेजी को भारतीय भाषा का दर्जा मिला और हिन्दी प्राथमिक कक्षाओं से भी बहिष्कृत हुई। वामपन्थी तो भाषा के सवाल

को गैरमार्क्सवादी सवाल मानते रहे। ध्यान से देखें कि जो राजनैतिक दल और अन्य तबके जाति-व्यवस्था के समर्थक रहे वे साधारण जन की भाषा के विरुद्ध विदेशी भाषा के भी समर्थक रहे। सभी प्रकार की शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के प्रयोग से कुछ वर्गों का ज्ञान पर बना एकाधिकार टूटता है और यह वर्णव्यवस्था पर करारी चोट होता है। इसीलिए जब स्वामी दयानन्द ने केशवचन्द्र सेन की सलाह पर हिन्दी को अपनाया और शूद्र भी वेदमन्त्रों का उच्चारण करने लगे तो वर्णव्यवस्था का किला हिलने लगा और सवर्ण वर्गों में अपनी-अपनी जाति के संगठनों को मजबूत करने की होड़ लगी। हिन्दी में जातियों के नाम से पत्रिकाएँ इसी दौर में निकलने लगी थीं।

अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा, संस्कृत और फारसी आदि माध्यम की शिक्षा की तरह ही जाति-व्यवस्था को मजबूत करती है। जनसाधारण के लिए अजनबी भाषा ऐसा वर्ग तैयार करती है जो जनसाधारण से पृथकता बनाए रखता है। अपने धंधे पर योग्यता के नाम पर खानदानी अधिकार लागू करता है तथा अपने को श्रेष्ठ तथा दूसरे को हीन मानकर ऊँच-नीच की सीढ़ियों का निर्माण करता है। ये तीनों लक्षण जाति-व्यवस्था के हैं। वैश्वीकरण की प्रक्रिया अंग्रेजी के माध्यम से जाति-व्यवस्था का नए सिरे से निर्माण कर रही है। निम्न (असवर्ण) जातियों में इसके विपरीत प्रक्रिया चल रही है। इसके बावजूद अगर हमारे दलित बुद्धिजीवी अंग्रेजी में अपनी मुक्ति देखते हैं, जैसा कि पुस्तक के पृष्ठ 35 पर कहा गया है तो लेखक के मंतव्य के साथ सहमति जताते हुए यह कहना ही पड़ेगा कि ये दलित बुद्धिजीवी भी उस वर्णवादी मानसिकता के शिकार हैं।

कुल मिलाकर यह पुस्तक भाषाओं के सम्बन्ध में नए विमर्श को प्रेरित करती है।

हिन्दी का पक्ष/ पंकज बिष्ट/ वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर/ मूल्य : 180 रु.

79-बी, पॉकेट-3, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091

विरासत

किसकी विरासत हैं ह्वेन-त्संग?

'ह्वेन-त्संग' एक चीनी यात्री थे जो छठी सदी में भारत आये थे..., तथा उन्हीं के लेखन में हमारे प्राचीन इतिहास के विस्तृत विवरण मिलते हैं...

हमारी स्कूली कक्षाओं के भारतीय इतिहास का परिचय अक्सर इसी वाक्य के साथ शुरू होता है, और फिर यह हमारी स्मृति में टिक जाता है। बाकीं बातें इतिहास की तरह ही हमारे दिमाग से गायब हो जाती हैं, बिल्कुल अपने पूर्वजों की तरह जिन्होंने इतिहास-लेखन की कोई परम्परा ही नहीं डाली। इसीलिए भारतीय इतिहास का पुनर्निर्माण ही हुआ है (या अब भी किया जा रहा है), तथा इसमें बहुत हद तक विदेशी विद्वानों के यात्रा-संस्मरण काम आएँ हैं। जैसे टॉलेमी, इब्न बतूता या चीन के फाहियान या ह्वेन-त्संग के यात्रा-संस्मरण।

लेकिन स्कूली पाठ्य के ये संक्षिप्त उद्धरण ह्वेन-त्संग का उचित व पर्याप्त परिचय नहीं देते। ह्वेन-त्संग न तो कोई घुमक्कड़ यात्री थे, न ही इतिहासकार और न ही कोई समाजशास्त्र के अन्वेषक, बल्कि वे एक बौद्ध भिक्षु थे जो बुद्ध की तरह ही ज्ञान की खोज में समर्पित रहे- आजीवन एक विद्यार्थी की तरह। किन्तु वे बुद्ध की तरह ईश्वरीय बोध की ओर उन्मुख नहीं थे, बल्कि वे मूलत: बौद्ध-परम्परा में विकसित ज्ञान की एक खास विधा 'योगाक्षर शास्त्र' के अध्ययन के लिए ही भारत आये थे।

ईस्वी सन् 600 में जन्मे ह्वेन-त्संग बचपन में ही बौद्ध भिक्षु हो गए थे, तथा युवा-अवस्था पहुँचते-पहुँचते उनकी रुचि योगाक्षर शास्त्र एवं त्रिपीटक के अध्ययन में बढ़ने लगी थी। इसी उद्देश्य से सन् 627 में वे भारत की यात्रा पर निकल पड़े, अपने गन्तव्य-नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्ययन के लिए।

पूर्वी चीन के मध्य इलाके जो क्यूलियन पहाड़ों से सटे हुए हैं, वहीं के झियान नगर से ह्वेन-त्संग की यात्रा शुरू हुई और फिर चीन के ही धुर पश्चिमी इलाके लैनझाऊ तथा वूगेई होते हुए दो विशाल रेगिस्तानों-गोबी तथा तकलामकान मरुभूमियों के बीच से गुज़रकर वे मध्यएशिया पहुँचे। फिर आज के किर्गिज़स्तान व उज्बेकिस्तान होते हुए अफ़गानिस्तान जिसका गांधार क्षेत्र उन दिनों भारतीय सभ्यता का एक महत्वपूर्ण केन्द्र माना जाता था, और अन्तत: कश्मीर, पंजाब; फिर मथुरा एवं उन दिनों के नगर श्रावस्ती, बुद्ध के जन्म-स्थान कपिलवस्तु और फिर राजगृह तथा नालन्दा विश्वविद्यालय-आज के बिहार में पटना से महज 60 किलोमीटर दक्षिण, तक। यह यात्रा फिर भी जारी रही-लगभग सारे भारतीय प्रायद्वीप में। असम के कामाख्यापीठ से लेकर आन्ध्र के विजयवाड़ा होते हुए तमिल नगर काँचीपुरम तक व फिर महाराष्ट्र के बौद्धपीठ अजन्ता, अमरावती और फिर गुजरात के सूरत एवं बरोच होते हुए पाकिस्तान नगरी मुल्तान व लाहौर से गुजरते पुन: कश्मीर और हिन्दुकुश पर्वत के उस पार, मध्य एशिया में। लेकिन लौटते वक्त ह्वेन-त्संग उस दौर

के प्रसिद्ध सिल्क रूट, यानी तकलामकान मरुभूमि के दक्षिण से ही गुजरकर वापस अपने देश चीन लौट गये।

किन्तु यह यात्रा कुछ दिनों या कुछ महीनों की नहीं थी। कुल मिलाकर 10,000 मील और लगभग 8 वर्ष; यात्राओं व अध्ययन, विशेषकर उस समय के श्रेष्ठतम बौद्ध आचार्य शीलभद्र के शिष्य बनकर–यह लम्बी यात्रा एक मायने में जबर्दस्त साहसिक और रोमान्चक अभियान थी। यह पन्द्रहवीं–सोलहवीं सदी के उन सभी समुद्री–यात्राओं, मसलन कोलम्बस, वास्को डी गामा या कि मैगेलन के अभियानों से कई गुना ज्यादा साहसिक थी। ऊँचे पहाड़, निर्जन रेगिस्तान जहाँ प्रकृति की अत्यन्त विषम परिस्थितियाँ होती हैं, और फिर खानाबदोश कबीले, डाकुओं व लुटेरों के गिरोहों का आतंक झेलते।

ह्वेन–त्संग की यह यात्रा और भी एक मायने में भिन्न थी। कोलम्बस जैसे समुद्री–यात्रियों की तरह यह धन–लिप्सा की पूर्ति के लिए नहीं की गयी थी, जिसके लिए संसाधन यूरप के व्यापारियों ने मुहैय्या की। यह यात्रा टॉलेमी या इब्न बतूता जैसे विद्वानों की तरह भी नहीं थी जो लूट और देश विजय के लिए निकली सेना के संरक्षण में की गयी। बल्कि यह एक सामान्य मनुष्य व भौतिक सम्पदा से बिल्कुल रिक्त, एक बौद्ध भिक्षु की यात्रा थी, जिसका सम्बल केवल उसका ज्ञान तथा सभी मनुष्यों के प्रति उसकी समदृष्टि थी। लेकिन तत्कालीन राजाओं, कबीलों के सरदारों, सामान्य राहगीरों, गाँवों व बस्तियों के सामान्य लोगों ने, या फिर धार्मिक मठ या बौद्ध–विहारों ने इस महान विद्या–अनुरागी के लिए पाथेय जुटाये। और फिर 18 वर्षों बाद सन् 648 में जब वे चीन वापस पहुँचे तो उनकी गिनती एक बड़े बौद्ध आचार्य व दार्शनिक के रूप में हो चुकी थी; साथ ही चीनी, संस्कृत व पाली भाषा के एक बड़े स्कॉलर के रूप में भी। और फिर वैसी ही अनोखी थी वे सौगातें जो वे भारत से अपने साथ ले गये, कई खच्चरों पर लादकर। ये सौगात लगभग 600 पुस्तकें थीं–तत्कालीन भारत के जीवन–दर्शन के आज भी बचे हुए गवाह जिनसे हम भारतीय स्वयं अपने बारे में जान पाये।

ह्वेन–त्संग की अपनी लेखकीय प्रतिभा सीमित थी। उनके एक मित्र व समकालीन बौद्ध भिक्षु शमन हुई ली ने ही उनके तथ्यों को साहित्य का रूप दिया जो एक अत्यन्त ही सहज और सरल विवरण है, और पिछले 1400 वर्षों से 'ता तांग झी यू जी' नामक ऐतिहासिक अभिलेख के रूप में सरंक्षित है।

यह भी एक मजेदार संयोग है कि भौगोलिक रूप से भारत के लिए जो सन्दर्भ पश्चिमी विद्वानों ने बनाया, वे हमेशा 'पूरब' या 'ओरियेन्ट' मानते रहे। लेकिन ह्वेन–त्संग के लेखन चीन के ऐतिहासिक दस्तावेजों में 'पश्चिमी विश्व के अभिलेख' नाम से जाने गये–'महान तांग राजवंश के काल में लिखे पश्चिमी विश्व के अभिलेख' समकालीन चीनी सम्राट 'ताई जोंग' के आदेश पर लिखे गये। शायद, यह इसलिए कि अपनी यात्रा की शुरूआत उन्होंने पश्चिम दिशा की ओर ही की थी।

पर भारत के विषय में संरक्षित यह ज्ञान चीन के ऐतिहासिक अभिलेखों में ही पड़ा रहा–लगभग 19वीं सदी के मध्य तक, जब एक अंग्रेज पादरी व विद्वान की नजर इस पर पड़ी जो स्वयं चीनी समाज के अध्ययन के लिए वहाँ गये थे। रेवरेन्ड सैमुअल वील, जो यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ लन्दन के स्कॉलर थे, उन्होंने ही 1884 में 'ह्वेन–त्संग' के इस लेखन का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। और, जल्द ही यह दस्तावेज भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ बन गया...। आगे नया इतिहास।

एक पुनर्यात्रा, ह्वेन-त्संग की राह पर

चीन के एक व्यक्ति का आकर्षण 'भारत' से, और शताब्दियों बाद एक भारतीय का आकर्षण 'चीन' में–यह महज़ संयोग भी हो सकता है। लेकिन यह भारतीय कोई पुरुष नहीं, बल्कि एक महिला हैं। लम्बी यात्राओं पर अकेले निकल पड़ने का दुस्साहस, जिसका कोई दूसरा उदाहरण भी शायद ही मिले।

मिस्सी शरण–1968 में इलाहाबाद में जन्मी, किन्तु 10 वर्ष की उम्र से ही पिता और परिवार के साथ अमेरिका में आव्रजन। छात्र-जीवन भी अमेरिका में ही, फिर न्यूयॉर्क के वेल्लेस्ले कॉलेज से ग्रेजुएशन–'चाइनीज स्टडीज' में। पेशे के तौर पर पत्रकारिता में दीक्षित एवं एंग्लो-चाइनीज संस्कृति के सबसे बड़े केन्द्र हांगकांग में पदस्थापित। चीन के प्रति जिज्ञासा एक नयी मोड़ ले लेती है और ह्वेन-त्संग के बारे में सोचते हुए लगातार ध्यान उन्हीं पर केन्द्रित रहता है–आखिरकार भारत का वह क्या विशेष आकर्षण था जिसने ह्वेन-त्संग को इतनी लम्बी यात्रा के लिए प्रेरित किया? और, फिर वे इलाके जो आज अलग-अलग देश हैं–क्या कुछ बदला है वहाँ इन 1400 वर्षों में? क्या फिर उन्हीं रास्तों, उन्हीं बस्तियों, उन्हीं पहाड़ों व रेगिस्तानों से गुजरते हुए, वही यात्रा एक बार फिर की जा सकती है? मन उद्वेलित होता रहता है। और वैसी ही सोच, अपनी संकल्प-शक्ति को लेकर।

अचानक वह क्षण आता है–मई 2000 की एक सुबह जब वह पत्रकारिता की नौकरी छोड़ देने का निर्णय लेती हैं, और चल पड़ती हैं ह्वेन-त्संग के पद-चिन्हों को ढूँढते हुए उन्हीं रास्तों पर।

चीनी अधिकारियों की अनुमति, उनके डन्डोलॉजी के स्कॉलर्स गर्मजोशी से मिस्सी

का स्वागत करते हैं, लेकिन भूगोल और राजनीतिक बदलावों को लेकर वे उन्हें सावधान भी करते हैं। क्योंकि इस बीच राज और रजवाड़े तो बदले ही, साथ ही नदियाँ भी उफनीं, सिमटी और ह्वेन-त्संग ने जहाँ उन्हें पाया था– वे वहाँ से अब कहीं दूर बहती हैं। उनके द्वारा वर्णित वे सारे नगर भी ध्वस्त हो चुके हैं, शायद कुछ अवशेष बचें हों। तथापि उनके यात्रा-वृत्तान्त में दिशाओं की ऐसी अद्‌भुत परिशुद्धता है जिनसे निर्देशन पाकर पुरातत्व-वैज्ञानिकों ने सातवीं सदी के न काल के ग्रास में दफन हो गये कई शहरों की खोज भी की है। आज उस यात्रा को दोहराने का अर्थ है चीन के पश्चिमी रेगिस्तानों से गुजरना, फिर सोवियत यूनियन से हाल ही में टूटे मध्यएशियाई गणतन्त्र, लगातार युद्धों में फँसे कुछ मुस्लिम देश, एक हिमालयी राज, और फिर भारत में भी एक सिरे से दूसरे सिरे तक की यात्राएँ... वह सब कुछ उतना आसान नहीं होगा।

लेकिन इन जमीनी मुश्किलातों के बीच मिस्सी खुद के सवालों से भी उतनी ही प्रेरित रहीं, और उनकी अपनी ही स्वीकारोक्ति, अपने ही इतिहास का अज्ञान–''यह मेरे जीवन में एक तकलीफदेह कमी थी। भारतीय इतिहास में बारे में मैं कुछ भी नहीं जानती थी। दक्षिण-पूर्व एशिया का इतिहास अमेरिका के अन्डरग्रेजुएट कॉलेजों के पाठ्यक्रमों में भी नहीं है, और एयरलाइन्स की पत्रिकाओं में तो वह मिलने से रहा। और यही मतिभ्रम मुझे उद्वेलित करता रहा–मुझे खुद से अपना इतिहास ढूँढना है। भारत का इतिहास।''

स्वयं की 'भारतीयता' के बारे में तो उनके सवाल और भी गहरे हैं–''कहीं दूर छिटका पड़ा, कोई भारतीय–कैसे जान पाये कि वह इसी 'माटी की सन्तान' है? कभी किसी समारोह में तिरंगे का दिख जाना और फिर हमारे दिल में उठती कोई कसमाहट...; सीने पर हाथ रखे कई बार हम राष्ट्रीय गान में शरीक भी होते...; और फिर नम होतीं हमारी आँखें...? क्या दिल के एक कोने में छुपा हुआ यह प्रेम ही भारतीयता है? कई बार क्रिकेट मैचों के समाचार उल्लास से भर देते। क्योंकि भारत को क्रिकेट से बहुत प्यार है, और वह विश्वस्तरीय मैच जीतता भी है। क्या 'क्रिकेट के लिए उल्लास' भी भारतीयता है?'' ऐसे ही न जाने कितने सवाल... खुद से ही वे करती रहीं।

और, इस ढंकी-छिपी भारतीयता के उनके अपने ही आत्मबोध हैं–''मेरी खुद की भारतीयता का एकमात्र गवाह वह गहरे नीले रंग का मेरा पासपोर्ट है जिस पर वह अनोखा आइकॉन है–चार मुखों वाला सिंह। इतने वर्षों तक भारत से दूर रहते हुए भी मैंने उसे कभी नहीं छोड़ा। एक तरह से इसी तिनके को पकड़े मैं इस विशाल भवसागर में तैर रही हूँ। बस मुझे यही लगता था कि मेरी भारतीयता की खोज में इतिहास ही मेरी कुँजी हैं।''

मिस्सी आगे लिखती हैं, ''मेरी उम्र

31 पहुँच गयी थी। आईने में अपनी आँखें कुछ और कहती लगती थी। कितनी स्याह-रेखाएँ उभर आयी थीं वहाँ...। लेकिन उनकी सार्थकता ही क्या थी? शायद यह कच्ची स्याही से बनायी गयी कोई पेन्टिंग हो जो बारिश खाकर धुँधली पड़ गयी हो। मैंने खुद को झकझोरा-कुछ तो करना होगा, इसके पहले कि मैं 'किसी टूटे शीशे की तरह बिखर जाऊँ'!''

भारतीय मूल की यह स्त्री जिसकी ऐसी दीवानगी हो चीन के लिए; और एक चीनी भिक्षु जो अपने आप में अनोखा दीवाना था भारत का-यह एक ही तरह की मन:स्थिति दर्शाती है। फिर एक तार्किक परिणति तो यही हो सकती थी; मिस्सी के ही शब्दों में-''उसी यात्रा पर चल पड़ूँ, एक बार फिर...।''

सो मई 2000 में आखिरकार वह इस यात्रा पर निकल पड़ती हैं-हांगकांग से पेकिंग, और फिर हेन्नात प्रान्त के छोटे शहर लूओयांग-ह्वेन-त्संग का जन्म-स्थान। और इसके साथ ही शुरू होता है इस ऐतिहासिक सन्दर्भ पर रिसर्च भी जो लूओयांग, नानकिंग और फिर पेकिंग के ऐतिहासिक अभिलेखगारों को छानते हुए ह्वेन-त्संग के यात्रा-मार्गों व मुख्य पड़ावों को चिन्हित करता है।

लेकिन 1400 वर्षों बाद की यह यात्रा, मिस्सी अपेक्षाकृत आधुनिक-संसाधनों से तय करती हैं-पश्चिमी चीन के प्रदेशों को रेल से, पश्चिमी चीन के प्रदेशों को रेल से, फिर बस-, कार- व हवाई - यात्राएँ-एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव तक उन नगरों, बस्तियों के अवशेष तलाशते, या फिर उनके बदले हुए भूगोल या आधुनिक अस्तित्व को निहारते। इस तरह किंवदंतियों में बसे, रहस्यमय मध्य-एशिया को वह एकबार फिर पार करती हैं-मंगोलिया, किर्गिजस्तान, ताज़िकस्तान व उज़्बेकिस्तान होते हुए अफ़गानिस्तान की सीमा तक। 'आमू दरिया' के उस पार वह इन्तजार ही करती रह जाती हैं, पर तालिबान सरकार उन्हें अफगानिस्तान आने की इज़ाज़त नहीं देती।

फिर ताशकन्द से दिल्ली, और एक बार फिर ह्वेन-त्संग के अलगे पड़ाव कश्मीर से होकर जालंधर, मथुरा, प्रयाग... कपिलवस्तु और अन्तत: पटना और उसके पड़ोस में नालन्दा विशविद्यालय के भग्नावशेषों तक।

एक लम्बी अवधि के अन्तराल पर, चीन से भारत तक की ये दो सामान्तर यात्राएँ, कई मामलों में अनोखी हैं-पहली यात्रा बौद्ध धर्म के तहत एक खास ज्ञान के लिए की गयी जो 'इतिहास' भी बनी, और फिर 'इतिहासकार' भी। इतिहास इसलिए कि ज्ञान पाने के लिए इतनी लम्बी यात्रा, और वह भी वर्षों-वर्षों तक, कुछ ऐसा कि शायद ही इस जैसा कोई दूसरा उदाहरण मिले! और इस यात्रा का इतिहासकार हो जाना-एक अतिरिक्त योगदान के कारण, क्योंकि उस युग के भारतीय समाज का प्रामाणिक विवरण कहीं और उपलब्ध नहीं है।

और आज की यह दूसरी यात्रा भी उतनी ही अनोखी है-अनजाने में ही, इतिहासकार बने उस व्यक्ति के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन में। लेकिन साथ ही, यह एक खोजी-यात्रा भी है, 'एक खोये हुए इतिहास' का-'टुवॉर्ड्स द डिस्कवरी ऑफ ए लॉस्ट हिस्ट्री'। फिर, यह एक समाजशास्त्रीय-अध्ययन भी है। किन्तु यह अध्ययन न तो चीन का है, न ही भारत का बल्कि उन सारे इलाकों-बस्तियों, नगरों और देशों का सामयिक-अध्ययन जिनसे होकर ह्वेन-त्संग गुजरे थे। और इस लिहाज से यह एक तुलनात्मक इतिहास भी है-आज और 1400 वर्ष पूर्व के समय का।

एक मामले में मिस्सी शरण अपने आदर्श मॉडल से और भी ज्यादा कुशल हैं। वह है इनकी लेखकीय क्षमता-अपनी इस दो वर्षों की यात्रा के रोचक संस्मरण को मिस्सी ने पॉपुलर राइटिंग में बाँध दिया है। 'चेजिंग द मोंक्स शैडोज-एक जर्नी इन द फुटस्टेप्स ऑफ झूआंनझांग'(भिक्षु के साये का पीछा करते-एक यात्रा, झूआंनझांग के पगचिन्हों पर)-पेंग्विन वाइकिंग(इंडिया) से प्रकाशित उनकी यह पुस्तक हाल ही (2005) में आयी है। जाहिर है कि एकबारगी मिस्सी शरण बड़ी चर्चा के केन्द्र में आ गयी हैं।

लाजिमी तौर पर उनकी ख्याति दो कारणों से हो रही है। पहली, एक औरत द्वारा इस बड़ी दुस्साहसिक यात्रा का तय किया जाना। दुस्साहसिक इसलिए कि पूरा का पूरा मध्य एशिया अभी भी कबाइली जीवन के तौर-तरीकों से ऊपर नहीं उठ पाया है। साथ ही सोवियत यूनियन से बाहर निकल जाने के बाद कोई केन्द्रीकृत व्यवस्था अब यहाँ नहीं हैं जो इन पर 'आधुनिक अनुशासन' लागू कर सके। इस तरह, पहले से भी ज्यादा अव्यवस्था के दौर में इस इलाके की यात्रा निश्चित तौर पर 'एक दुस्साहस' ही है, एक स्त्री के लिए तो और भी। दूसरा कारण है, उस खास विषय का चुनाव जिसकी इतिहास-प्रसिद्धि अब भी कम नहीं हुई है।

इन दो यात्राओं के बीच, भले ही उनमें 1400 वर्षों का लम्बा फासला क्यों न हो, कई समानताएँ भी हैं। राजनीतिक तौर पर 7वीं सदी के आरम्भ तक यह पूरा का पूरा इलाका उतना ही खुदमुख्तार और स्थानीय सत्ताओं की अव्यवस्था के गिरफ्त में आ गया था, जितना कि आज है। प्रसिद्ध चक्रवर्ती सम्राट कनिष्क जिनके पूर्वज स्वयं ही चीनी कबीलों के वंशज थे तथा जिनकी सत्ता गांधार में केन्द्रित होकर भी पूरे उत्तरभारत तथा मध्यएशिया को नियन्त्रण में रखती थी, उस समय तक ध्वस्त हो चुकी थी। बौद्ध धर्म तथा उसके संघाराम, या कि बौद्ध-विहार जो पूरे मध्यएशिया में व्याप्त थे, उस समय तक या तो निष्क्रिय हो गये थे या फिर नाम मात्र के अस्तित्व में रह गये थे। बाद की सदियों में जो बड़ा धार्मिक-प्रभाव इस क्षेत्र में आया, वह था 'इस्लाम' का। लेकिन जिस कालखण्ड में ह्वेन-त्संग अपनी यात्रा पर थे, 'इस्लाम' खुद अरब में भी, उभर ही रहा था। इस तरह सोवियत यूनियन के समाप्त हो जाने के बाद जैसी शून्यता आज है, लगभग वैसी ही शून्यता यहाँ उस दौर में भी थी। लेकिन भारत उन दिनों एक बड़ी केन्द्रीय सत्ता के अधीन था, और वह था हर्षवर्द्धन का साम्राज्य जिसका गांधार तक पूर उत्तर भारत में तो नियन्त्रण था ही, अप्रत्यक्ष नियन्त्रण दक्षिण की छोटी राज-सत्ताओं पर भी था। वैसे तो प्रत्यक्ष इतिहास है हर्षवर्द्धन के काल को भारतीय इतिहास का दूसरा स्वर्णयुग कहता है (पहला स्वर्णयुग अशोक कालीन मगध-साम्राज्य), किन्तु ह्वेन-त्संग के यात्रा-वृत्तान्त इस देश की 'सोशल हिस्ट्री' के लिए भी काफी तथ्य मुहैय्या करते हैं, और साथ ही वे ऐसे स्वर्णयुग के दावे पर भी अनेक सवाल खड़े करते हैं।

लेकिन इन दो यात्राओं के बीच एक महत्वपूर्ण फर्क भी साफ-साफ झलकता है। और वह फर्क है। 'सामाजिक आतिथ्य' का तथा एक ज्ञानी के प्रति इन इलाकों में 'सहज

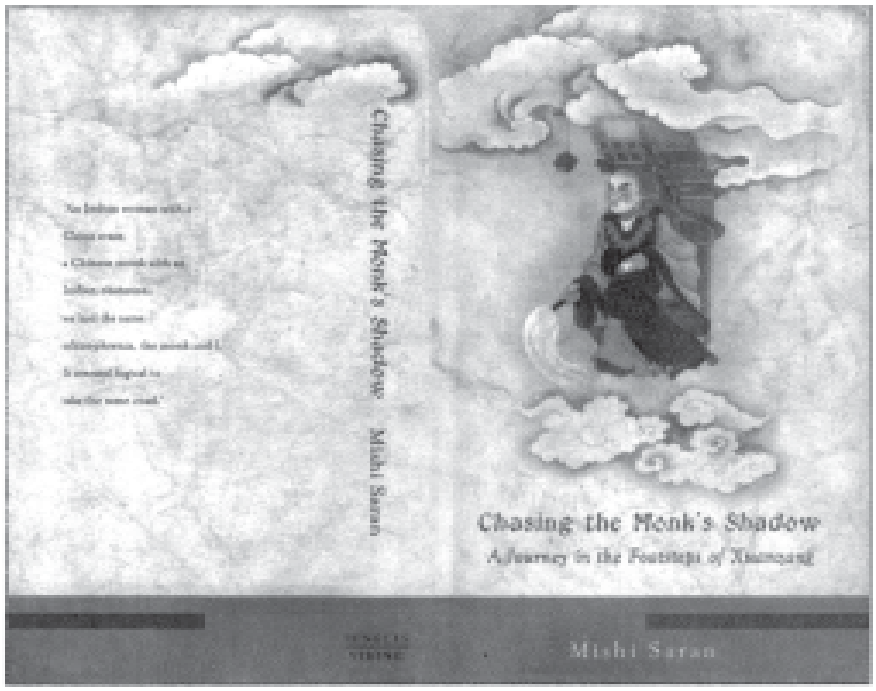

सम्मान' का। ह्वेन-त्संग जो 18 वर्षों तक यात्रा में ही रहे; उनके पास साथ में कुछ भी नहीं होता था जिसे 'पाथेय' कहा जा सके। रास्ते भर उनको डाकू-लूटेरे भी मिलते रहे, छोटे-छोटे कबाइली सरदार, और स्थानीय स्तर के जागीरदार या राजा भी। उन सबों ने न केवल एक विद्वान के नाते उनका सम्मान किया बल्कि उनको अगले गन्तव्य तक पाथेय भी वे ही देते रहे, यहाँ तक कि बस्तियों के सामान्य लोग भी। जगह-जगह बौद्ध मठ भी मिलते रहे (जिन्हें संघारम कहा जाता था) जो एक तरह से बौद्ध भिक्षुओं के लिए ही विकसित हुए थे, और जाहिर है कि ह्वेन-त्संग को अपनापन उन संघारामों में ही दिखता होगा। लेकिन उस दौर के पहुँचते-पहुँचते बौद्धधर्म ढलान पर था तथा संघाराम के रख-रखाव भी कमजोर पड़ गये थे।

तुलनात्मक रूप से यह दूसरी यात्रा 21 वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में हुयी है जब उन्नत टेक्नोलॉजी-सम्पन्न यात्रा की सुविधाएँ काफी विकसित हो चुकी हैं। इसलिए मिस्सी शरण कहीं ट्रेन तो कहीं बस, कभी टैक्सी तो कभी हवाई जहाज का सहारा तो लेती हैं, परन्तु उनके हर पड़ाव पर 'आतिथ्य की भावना' नदारद है। 'पैसा' ही इस सदी का पाथेय है, और चाहे आप कितने भी महान उद्देश्य के लिए यात्रा कर रहे हों, आपको व्यक्तिगत पूँजी से ही निवेश करना पड़ता है। ऊपर से तुर्रा यह कि पहले जो समाज आपको अनायास ही 'सहज आतिथ्य' देता था, उसकी अपेक्षाएँ अब अतिथि से ही ज्यादा से ज्यादा पैसे झटक लेने की होती हैं-आधुनिकता और विकास का यही अर्थ इस नयी यात्रा से निकलता है। पता नहीं मनुष्य विकास के इस दौर में 'सभ्य' बन रहा है या कुछ ज्यादा ही 'बर्बर'? भले ही आज तलवार की क्रूरता न दिखे, पर पैसे उमेंठने के लिए छल-प्रपंच, आमजीवन में रोजमर्रे की दो-पाँच व ठग-विद्या-यह सब साफ-साफ झलकता है।

इसके अलावा एक बात और भी स्पष्ट तौर से दिखती है-सभ्यता का अर्थ किसी भी मनुष्य के लिए एक पसरी हुई धरती है जिसपर आप कहीं से कहीं भी आने-जाने को स्वतन्त्र हों। इस मुतअल्लिक कम से कम कोई 'संगठित' बाधा ह्वेन-त्संग की उस यात्रा के दौर में कहीं नहीं थी। आप में साहस हो, तो आप किसी भी दिशा में दूर-दराज की यात्रा कर सकते थे। लेकिन पिछले दो-तीन सौ वर्षों में पग-पग पर देश और राष्ट्र की सीमाएँ बन गयी हैं, और ढेरों बाधायें खड़ी हो गयी हैं-लगातार उनकी चौकसी करते प्रहरियों की विशाल फौज, पासपोर्ट और वीसा की अनुमतियाँ, और साथ ही यह भी कि आप किस राष्ट्र के हैं? और, यह कि आप मित्र-राष्ट्र के हैं या शत्रु-राष्ट्र के? या फिर, किसी तटस्थ क्षेत्र से! आपका अतिथि बनना भी आज आपके खुद के हाथ में नहीं है, न ही आपके व्यक्तित्व मेजबान के हाथ में ही-ये तमाम मामले उन देशों और समाजों, जहाँ आप जा रहें हैं, की सत्तायें तय करेंगी! आप पुरुष हैं या स्त्री, आपने कपड़ें कैसे पहन रखें है; अथवा आप केवल नगरों में ही घूम सकते हैं, खंडहरों को देखने के लिए विशेष अनुमति लेनी होगी, और रास्ते में अगर कोई सैनिक-क्षेत्र आया तो आपके लिए वह और भी निषिद्ध!

'शू येह' की यात्रा, किर्गिज़स्तान के बेडेल दर्रे के पास। लेकिन चीनी सीमा की ओर जाने की अनुमति मिस्सी को पहले भी नहीं मिली थी। किर्गिज़िस्तान की सीमा से यह सम्भव था लेकिन सोवियत यूनियन के पतन के 10 वर्षों बाद भी मध्यएशिया के सारे सैनिक-पड़ाव व -चौकियाँ अब भी रूसियों के नियन्त्रण में हैं। ह्वेन-त्संग के वर्णनों में यहाँ एक विशाल झील इस्सीकूल (पूरब से पश्चिम की ओर संकरा होता हुआ, 1400 ली×1500 ली) का जिक्र आता है जिसमें मछलियाँ और ड्रैगन साथ-साथ रहते थे। पास के बर्फीले पहाड़ पर-तमगा बस्ती जो सिल्क-रूट का एक महत्वपूर्ण पड़ाव था, मिस्सी वहाँ जाना चाहती हैं। किर्गिज लोगों के लिए चीन का उच्चारण खिटाई और चीनी भिक्षु के लिए खिटाइस्की मोनाख -रूसी किर्गिज की सम्मिलित भाषा। लेकिन एक मिलिट्री ट्रक के सहारे वह वहाँ पहुँचती तो हैं, पर रात भर अपने दरवाज़े पर वस्सीली नामक एक सैनिक अधिकारी की दस्तक सुनती रहती हैं-एक 'बर्फीली रात के सन्नाटे का आतंक।' हालाँकि चलते समय वह अधिकारी उनसे क्षमा भी माँगता है, यह कहते हुए कि उस समय वह नशे में था।

तालिबान के राज में मिस्सी ने संगीत सुनना भी निषिद्ध पाया। जब वह जलालाबाद से काबुल जा रही होती हैं तो भाड़े की 'मैक्सी' का ड्राइवर किसी भारतीय फिल्म के कैसेट बजाने लगता है। और जब एक अफगान यात्री उसे टोकता है तो ड्राइवर हँस कर मिस्सी की ओर इशारा कर देता है-''पुलिस पकड़ेगी तो कह दूँगा कि इसी भारतीय महिला के कहने पर वह यह संगीत बजा रहा था।'' 'आतंक' और 'चाह' के बीच का यह फासला-1400 वर्ष पहले ह्वेन-त्संग को

तो कभी नहीं झेलना पड़ा था जितना आज के दौर में मिस्सी या हर ऐसे अनाम यात्री को इन क्षेत्रों में अब झेलना पड़ता है या पड़ सकता है।

सभ्यता का ऐतिहासिक दौर एक अन्य मामले में भी अब घूम गया सा लगता है– निर्णायक तौर पर, और वह भी उल्टा दिशा में। ये दो समाज, चीन और भारत– मध्यएशिया के पार दो छोरों पर हैं जो कभी यहाँ के सैनिक दस्तों व लुटेरे गिरोहों से बराबर त्रस्त रहते थे। आधुनिक विकास के दौर ने इन दोनों को ही शक्ति-सम्पन्न बना दिया है, जबकि बेचारगी अब मध्यएशिया के समाजों पर तारी है।

चीन के पश्चिमी प्रदेश 'झीन-जियांग' से शुरू होता है प्राचीन सिल्क-रूट जो अब चीन का नेशनल हाइवे–312 है। और फिर जो अगला इलाका है वह मंगोलियाई नस्ल के 'ऊघूर' लोगों को जिनकी भाषा तुर्की के करीब है, जबकि उनकी लिपि 'अरबी' है। मिस्सी की बस अंक्सी-कूचा की और बढ़ती है। और जैसा कि भारत के छोटे-छोटे कस्बों में चलने वाली निजी बसें ज्यादा में ज्यादा पैंसेजर बटोरने के चक्कर में अन्य यात्रियों के समय का ख्याल नहीं रखतीं, चीन के उस सीमावर्त्ती क्षेत्र में भी कुछ ऐसा ही नजारा था। पर गुस्से में प्रतिवाद एक व्यापारी महिला करती है; ऊघूरों को बेवकूफ़, जाहिल व असभ्य कहते हुए, यहाँ तक कि जोर-जोर से बोलते हुए वस्तुत: वह बरस पड़ती है–

''ये ऊघूर लोग? मुझे इनसे नफरत है।'' अन्य सारे के सारे लागे जो उस बस में बैठे हुए हैं, वे ऊघूर हैं; पर किसी में भी प्रतिवाद की हिम्मत नहीं। आज, यह गौर करने की बात है–ये ऊघूर लोग मंगोलियाई हैं, मुसलमान हैं और गाहे-व-गाहे वे इस्लामी उग्रवाद के खौफ भी दिखाते रहते हैं। फिर भी आधुनिकता के दौर में अब भी ये पिछड़े वे बेचारे लोग ही हैं। अब से 200 वर्षों पहले, और शायद उससे भी 1200 वर्षों पहले तक– ये लोग आतंकी हुआ करते थे। और दरअसल शायद उससे भी पहले, 2200 वर्षों पीछे तक भी। ये वही लोग हैं जिनसे बचने के लिए चीन की विशाल दीवार बनी थी–कई सौ मील लम्बी।

रास्ते के हर छोटे-बड़े पड़ाव पर मिस्सी को जो गिनती के लोग अच्छी वेशभूषा में पूरे अधिकार और गर्व का प्रदर्शन करते दिखते हैं, वे सब के सब भीतरी चीन के लोग हैं– सरकारी अधिकारी, कर्मचारी, व्यापारी, या हर वह शख्स जो रोजमर्रे के जीवन में आमलोगों पर अपनी रुतबा का धौंस जमा कर जीने को अभ्यस्त है। लेकिन चीन की राजसत्ता का यह उपदेश भी मिस्सी को पोस्टरों पर दिखायी पड़ती है–

साम्प्रदायिक एकता (क़बीलाई लोगों के साथ एकता–शायद असली तात्पर्य यही हो) सारे कबीलाई समूहों का जीवन-मार्ग है!

कबीलाई अलगाववाद का विरोध करो!
सेना हर जगह मौजूद है
–आपकी रक्षा के लिए।
–राष्ट्रीय एकता की रक्षा के लिए
–विश्व शान्ति की रक्षा के लिए।

जनहित में प्रचारित,
(एग्रीकल्चरल बैंक ऑफ चाईना)

वैसे मिस्सी शरण इन पूरी स्थितियों को एक भयभीत राज्यसत्ता का उपक्रम मानती हैं पर मध्ययुगीन आतंक और लूट पर आधारित जीवन-व्यवस्था के दिन लद गये–इसको वह स्पष्टत: रेखांकित नहीं करतीं। भले ही साढ़े चार सौ पन्नों का उनका यह यात्रा-वृत्तान्त बार-बार, किन्तु परोक्ष रूप से ही सही, इसी तथ्य की ओर इशारा करता है। उनका अपना ही एक उदाहरण देखें–

मिस्सी पाकिस्तान–अफ़गानिस्तान सीमा पर पहुँची हुई हैं, अफ़गानिस्तान के लिए वीसा प्राप्त करने। जहीद हुसेन नामक एक व्यक्ति, उन्हीं के शब्दों में, 'वारियर–एडमिनिस्ट्रेटर' उनकी ओर एक फॉर्म बढ़ाता है–''भरो इसे!'' वह फॉर्म पढ़ती हैं–'नेम'; फिर दूसरा कॉलम है–'सन ऑफ।' ऐसा कोई बॉक्स या कॉलम नहीं दिखा जिसमें 'डॉटर ऑफ,' के लिए भी कोई जगह हो। प्रतिवाद का कोई असर नहीं। वह लिखती हैं,'' ...ऐसे मौकों पर पाकिस्तानी अधिकारियों की उदारता भी इतनी बड़ी चीज़ लगती थी मानो 'वह दिल चीरकर बाहर निकली हो...!'' ऐसे अनेक मौकों पर उनकी आँखों में भी आपके लिए कोई सहानुभूति होगी, मानो उन्हें दु:ख हो रहा हो कि ऐसे असभ्यों से आपको वे बचाने में भी सक्षम नहीं हो पा रहे।''

फिर अफ़गानिस्तान की सीमा के भीतर तोख़म की ओर जाते हुए एक टीले पर अंग्रेजों के समय का एक इश्तहार दिखता है–''खैबर राइफल्स आपका स्वागत करता है, 1878 से कार्यरत।'' राइफल पठानों की शान है, ऐसा अंग्रेज भी मानते थे, लेकिन अब राइफल ही नहीं, तोप भी उनकी संस्कृति बन गयी है और, ये दोनों ही अब उन्हीं को ध्वस्त कर

रहे हैं। दूसरी ओर, एक पढ़े-लिखे अफ़गानिस्तानी करीम से हुयी बातचीत का भी वह हवाला देती हैं–''इस अन्तहीन लड़ाई से सचमुच हमलोग तंग आ चुके हैं..., दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं... पाकिस्तान के रिफ़्युजी कैम्पस में।'' वह आवेश में बोलते जाता है–''यह सब उन्हीं की कारस्तानी है। हम तंग आ गये हैं। पाकिस्तानियों से..., हम उनसे नफ़रत करते हैं...।'' मुस्लिम समाजों का अपना ही अन्तर्विरोध, जबकि इस्लामी भाईचारे तथा जिहाद के नारे सतह पर–आज का मध्यएशिया, इन 1400 वर्षों में, यहीं तो पहुँचा है।

मिस्सी शरण की यह यात्रा फिर भी मूलत: एक भावनात्मक लगाव के कारण ही है। और, जैसे ही वह चीन का सीमा से मध्यएशिया के ठिकानों की ओर बढ़ती हैं तुर्की, ईरानी, अरबी के कुछ भाषायी शब्द या कुछ सांस्कृतिक चिन्ह भी उन्हें अपनापन से भर देते हैं। 'जीरा-मिर्च', तो कहीं 'मेहमान'-कूचा में ही उन्हें ऐसे कई शब्द मिलते हैं जिनके विषय में वह लिखती हैं–''मैं बचपन से ही इनसे परिचित थी..., ऐसे ही कुछ अन्य शब्द भी, जैसे–जुम्मात, अख़बार, मालूम, रंग...।''

काशगर, विशकेक, और फिर वह ढूँढ़ निकालती हैं–बूमिन खार द्वारा ई. सन् 619-630 में बसाया गया एक प्राचीन नगर। फिर खान और ह्वेन-त्संग की वह मुलाकात जिसके दौरान खान उनसे बौद्ध धर्म की मुख्य-शिक्षा के विषय में जानना चाहता है।

''हत्या मत करो, चोरी मत करो। व्यभिचार, चरित्र हनन् वे लोभ–इनसे दूर रहो। सभी दूसरे जीवों के जीवन में रुचि लो, आनन्द पाओ''–यह बौद्धों के दसशीलम, पारमिता का सा है जिसे भिक्षु ने उस दुर्द्धर्ष योद्धा को समझाया। और, फिर खान का बौद्ध धर्म के प्रति समर्पण।

चीनी मंगोलियाई के ही नगर कूचा का तत्कालिक वर्णन वह देती हैं जब स्थानीय राजा बा-ई. ने ह्वेन-त्संग के स्वागत में खुद ही आगवानी की थी, अपने साथ एक विद्वान भिक्षु 'मोक्षग्रस्त' को लेकर। वहाँ की भाषा 'तोखारिश' थी; तुर्क सातवीं सदी के आरम्भ तक वहाँ नहीं पहुँचे थे। मिस्सी स्थानीय बौद्ध अभिलेखगारों में इसे सम्राट अशोक के साम्राज्य के अधीन होने के भी तथ्य पाती हैं, इस उल्लेख के साथ कि अशोक ने अपने बेटे कुणाल को इस क्षेत्र का अधिराज भी बना दिया था।

उज़्बेकिस्तान में आज के शहरीसब्ज के पास उन दिनों का नगर केश है और, उल्लूक वेग का बनवाया कोक-गुम्बज भी जहाँ से उस दौर में बौद्ध साहित्य के कई अनुवादक चीनी राज्यों की सेवा में थे। ह्वेन-त्संग अपने लक्ष्य से पश्चिम की ओर इस नगर की तरफ़ (यह सोचकर कि वहाँ उन्हें बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कुछ जानकारी मिलेगी) गये थे। परन्तु ऐसा न होने पर वे फिर अपनी राह, पूर्व से होते हुए दक्षिण की ओर, चल पड़े थे–यानी, तोख़रिस्तान और फिर शीर दरिया जो स्थानीय इतिहासकार लियोनिड के अनुसार अब काफ़ी दक्षिण अपनी धारा बदल चुकी है! और उसके किनारे का नगर तरमेज तक, जो तब कुशान सम्राट कनिष्क के राज्य का एक हिस्सा था तथा जहाँ अभी भी अग्नि-मन्दिर के अवशेष वर्तमान हैं। और, जरा ही आगे पहुँचे, तो–बल्ख, आमू दरिया के किनारे जहाँ प्राचीनतम (ई. सन् 777) सूफी-सन्तों का वह साहित्य-केन्द्र मिलता है जिसके सारे पाठ्यक्रम इब्राहिम बिना अधम के बनाये हुए कहे जाते हैं; परन्तु मुलत: वे सारे बौद्ध भिक्षुओं के संघारामों के हू-ब-हू टेक्स्ट हैं।

गांधार जहाँ से ह्वेन-त्संग भारत का आरम्भ बताते हैं; वहाँ से फिर स्वाट घाटी, कश्मीर और फिर नीचे पंजाब, सिन्ध–सैकड़ों बौद्ध अवशेषों का हवाला मिस्सी देती हैं, उनके आज के नाम व उनके तात्कालिक नामों के साथ। एक पूरी की पूरी विस्तृत बौद्ध-सभ्यता का इस्लाम के प्रभाव में रूपान्तरण। लेकिन स्वयं भारत में जालंधर से आगरा जाते हुए डाकुओं का उत्पात झेलना, या फिर प्रयाग से कुशीनगर-कपिलवस्तु तक, आज के कानपुर से बहुत करीब जो हर्षवर्द्धन की राजधानी कन्नौज था।

वैसे भारत में बौद्ध-धर्म के उत्थान और फिर उसका पतन के विषय में डी.डी. कोशाम्बी व आचार्य नरेन्द्र देव जैसे बड़े बुद्धिजीवियों ने अपने-अपने तर्क प्रस्तुत कियें हैं। राहुल सांकृत्यायन जैसे यायावर विद्वान के लिए भी मध्यएशिया का बड़ा आकर्षण था। निस्संदेह मिस्सी शरण ने आज ह्वेन-त्संग के कदम-चिन्हों को तलाशते हुए भारत के आरम्भिक मध्ययुग को सामने ला दिया है। लेकिन इन तमाम सवालों, जो पहले भी उठ चुके हैं, के साथ मिस्सी कुछ और भी गहरे सवाल उठाती हैं वह कहती हैं –''चीन के वर्तमान अकादमियां व बुद्धिजीवियों के एक बड़े हिस्से में ह्वेन-त्संग के इस कालजयी प्रयास के प्रति कोई ख़ास उत्साह नहीं है। बीजिंग की सोशल साइंस अकादमी में लोगों ने थोड़ी झिझक के साथ ही कहा–''यह ठीक है कि उन्होंने बौद्ध-साहित्य का एक बड़ा भंडार चीन को लाकर दिया, उनमें से ढेरों के अनुवाद भी उन्होंने किये पर अन्तत: उनका अनुराग भारत के लिए था, भारतीय विद्या के लिए था, तथा जीवन के सबसे महत्वपूर्ण समय उन्होंने भारत में ही बिताया। इसी तुलना में उन्होंने चीन के लिए क्या किया?'।''

फिर वह इसी से जुड़ा अगला सवाल उठाती हैं–''ह्वेन-त्संग को किसकी विरासत माना जाए? भारत का, या कि चीन का?''

और शायर मिस्सी का यह दो-टूक सवाल इस असमंजस को साफ भी कर देता है–''किसी समाज में जन्म लेना एक बात है, जबकि अपनी विद्वता से किसी समाज को समृद्ध करना ज्यादा समीचीन तथ्य है। निस्संदेह हमारे अपने इतिहास का संज्ञान काफी कुछ ह्वेन-त्संग के लेखनों से ही मिला है। कम से कम इसकी कृतज्ञता तो हमारे आधुनिक राष्ट्र को दिखाना ही चाहिए–ह्वेन-त्संग को अपना विरासत मानकर!''

हाल-फिलहाल कि इतिहास में डा. कोटनिश का उदाहरण हमें समझा सकता है। भारत में जन्म लेना, किन्तु डॉक्टर के रूप में चीन के मुक्ति-संग्राम में भागीदारी, और फिर उनका उत्सर्ग! चीन ने बखूबी उन्हें अपनी विरासत मान लिया है–सारे राष्ट्रीय सम्मान के साथ। क्या यही उदाहरण ह्वेन-त्संग को लेकर हम नहीं दिखा सकते?

मिस्सी शरण की अंग्रेजी पुस्तक 'चेजिंग दि मौंक्स शैडो : ए जर्नी इन दि फुट स्टेप्स ऑफ ह्वेन-त्संग' पर आधारित।

(साभार : विकास सहयात्री, रांची के जनवरी-मार्च 2008 अंक से)

धरोहर

रेणुजी का 'मैला आँचल'

नलिन विलोचन शर्मा

'मैला आँचल' फणीश्वरनाथ 'रेणु' का प्रथम उपन्यास है। यह ऐसा सौभाग्यशाली उपन्यास है, जो लेखक का प्रथम कृति होने पर भी उसे ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त करा दे कि वह चाहे तो फिर कुछ और न भी लिखे। ऐसी कृति से लेखक को यह कठिनता भी होती है कि वह अपने लिए ऐसा प्रतिमान स्थिर कर देता है, जिसकी पुनरावृत्ति कठिन होती है, हमें विश्वास है कि रेणु 'मैला आँचल' से भी उत्कृष्टतर कृतियाँ प्रस्तुत कर सकेंगे।

'मैला आँचल' गत वर्ष का ही श्रेष्ठ उपन्यास नहीं है, वह हिन्दी के दस श्रेष्ठ उपन्यासों में सहज ही परिगणनीय है। स्वयं मैंने हिन्दी के दस श्रेष्ठ उपन्यासों की जो तालिका प्रकाशित कराई है, उसमें उसे सम्मिलित करने में मुझे कठिनाई न होगी। मैं किसी द्विधा के बिना एक उपन्यास को हटाकर इसके लिए जगह बना सकता हूँ। बिना किसी प्रचार या विज्ञापन के ही 'मैला आँचल' हिन्दी के उस विस्तृत क्षेत्र में तत्क्षण प्रसिद्ध हो गया, जिसमें अपवाद-रूवरूप ही कोई पुस्तक इतनी शीघ्र ज्ञात होती है। मैंने इसे 'गोदान' के बाद हिन्दी का वैसा दूसरा महान् उपन्यास माना है। मुझे सन्तोष है कि मेरा यह मत दूर-दूर तक प्रतिध्वनित हुआ है। हिन्दी के एकाधिक उपन्यासकारों ने दो-चार स्त्रियों या पुरुषों के– यहाँ तक कि एक ही स्त्री या पुरुष के – जीवन को लेकर खास अच्छे उपन्यास लिखे हैं। किन्तु जो उपन्यासकार व्यष्टि को नहीं, समष्टि को ही, सिद्धान्त में प्रधानता देते हैं, वे भी अपने आदर्श को उपन्यास का रूप देने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं। हिन्दी के ऐसे उपन्यासकारों ने यदि समष्टि का चित्रण किया भी है तो कुछेक पात्रों को ही सामान्य-लक्षण 'टाइप' बनाकर, अर्थात प्रधानता व्यक्ति या

नलिन विलोचन शर्मा

व्यक्तियों की ही रही है, समूह गौण, प्रासंगिक ही बना रह गया है। यह हिन्दी के उपन्यासों का ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं के, किंबहुना अंग्रेजी तक के उपन्यासों का एक अभाव है। पुराने रूसी उपन्यासकारों में टॉल्सटॉय 'वार एंड पीस' में और नयों में साम्यवादी मान्यताओं को साहित्य में रूपान्तिरत करने के प्रयास के फलस्वरूप, एकाधिक लेखकों के बीच शोलोकोव, समष्टि को ही औपन्यासिक पात्रता प्रदान करने वालों

में उल्लेख्य हैं। अमरीकी उपन्यासकारों में भी पुराने सिन्क्लेयर लीविस और नये जॉन स्टाइनबेक, इस दृष्टि से उदाहरणीय हैं, यद्यपि इन्होंने किसी राजनीतिक सिद्धान्त की प्रेरणा से अपने उपन्यास नहीं लिखे हैं। भारतीय उपन्यासकारों में प्रेमचन्द अपवादस्वरूप थे; क्योंकि उन्होंने, बिना किसी साहित्येतर सिद्धान्त के आग्रह के, 'गोदान' जैसा महान् समष्टिमूलक उपन्यास लिखा, जिसका मुख्य पात्र है तत्कालीन भारतीय जीवन। उनकी इस उपलब्धि की ओर, मुझे इसका सन्तोष है, मैंने सर्वप्रथम हिन्दी के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था, अन्यथा उनकी महिमा गाने से कभी न अघाने वाले आलोचक भी, 'गोदान' के स्थापत्य की असफलता की ही घोषणा करते रहे।

मुझे उपन्यास के इस प्रकार की तनिक विस्तार से चर्चा करनी पड़ी है; क्योंकि 'मैला आँचल' इसी प्रकार का, 'गोदान' की परम्परा में, भारतीय भाषाओं का दूसरा उपन्यास है।

'गोदान' की तुलना में 'मैला आँचल' की अपनी सीमाएँ हैं। समष्टिमूलक उपन्यास के अनुरूप जैसा महाकाव्योचित स्थापत्य 'गोदान' में है, उसके विपरीत 'मैला अंचल' सुसम्बद्ध स्थापत्य का उपन्यास है। यही कारण है कि दूसरे उपन्यास का पात्र बिहार का छोटा-सा अँचल है, पर पहले का पात्र समग्र भारतीय जीवन है। 'मैला आँचल' की यह सीमा है, पर दुर्बलता नहीं; क्योंकि उसके लेखक को भी चित्रणीय जीवन का आत्मीयतापूर्ण ज्ञान है, व्यापक दृष्टि है, परकायप्रवेशवाली उपन्यासकारोचित सामर्थ्य है और सर्वोपरि चित्रांकन के समय ऐकांतिक तटस्थता और निर्लिप्तता बनाए रखने वाली कलाकारोचित प्रतिभा। 'रेणु' ने अपने हृदय की सारी ममता और करुणा उड़ेलकर ही अपने गाँव और वहाँ रहने वालों को जाना होगा, जैसे प्रेमचन्द ने जाना था, किन्तु शरतचन्द्र के-से लगने वाले भी उसके पात्र उनकी वकालत वसूलने में कही सफल नहीं होते। अपने उपन्यास की शीर्षक हीन संक्षिप्त भूमिका में 'रेणु' की ये पंक्तियाँ मुझे इसी आशय के साथ पूर्णत: उचित प्रतीत हुई हैं ''इसमें फूल भी हैं, शूल भी; धूल भी है, गुलाल भी; कीचड़ भी है, चन्दन भी; सुन्दरता भी है, कुरूपता भी-मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया।''

मैं यहीं यह भी कह दूँ कि अपनी सम्पूर्णता में काव्य का प्रभाव उत्पन्न करने वाले इस उपन्यास में यही वह अधिक-से-अधिक कवितापन है, जिसकी छूट लेखक ने अपने को दी है।

मैंने 'मैला आँचल' को अपने द्वारा उद्‌भावित वर्ग में रखकर परखने की कोशिश की है। स्वयं लेखक ने इसे एक आँचालिक कहना पसन्द किया है। उसका अपना कथन है- ''यह मैला आँचल, एक आँचलिक उपन्यास। कथांचल है पूर्णिया। पूर्णिया-बिहार राज्य का एक जिला है।... मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को-पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर-इस कविता का कथा-क्षेत्र बनाया है।'' बंगला में इसी अंचल पर आधारित उपन्यास 'जागरी' कुछ दिनों पहले प्रसिद्ध हो चुका है। बंगला के अन्य लेखकों के आँचलिक उपन्यासों ने भी समुचित महत्व प्राप्त किया है। लेकिन 'मैला आँचल' केवल आँचलिक उपन्यास ही नहीं है। इसके अतिरिक्त उसकी क्या विशेषता है, मैं पहले ही व्यक्त कर चुका हूँ।

हिन्दी में उपन्यास की आलोचना के मानी होते हैं आलोच्य उपन्यास की कहानी संक्षेप में लिख देना। मैं यों ही इसे अनावश्यक मानता हूँ। 'मैला आँचल' की आलोचना में तो यह प्रणाली नितान्त आवश्यक है; क्योंकि कथा के अनेक आभासों से बुनी गई इस उपन्यास की सम्पूर्ण कथावस्तु का संक्षेपीकरण सम्भव नहीं है, जो वस्तुत: इसका दुर्लभ सामग्रिक वैशिष्ट्य है।

'रेणु' ने प्रेमचन्द की तुलना में 'कथांचल' को सीमित रखा है, किन्तु पात्रों और जीवन के पहलुओं के बीच की खाइयों को उस तरह ही पाट डाला है, जिस तरह प्रेमचन्द ने, जिनके चरित्र-चित्रण का विवेचन करते हुए मैंने इसका अन्यत्र विस्तार से विवेचन

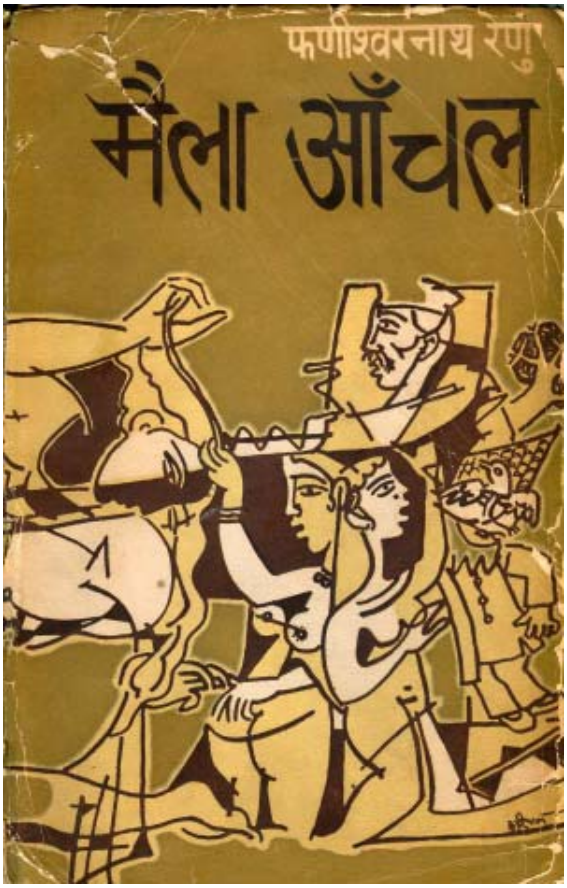

किया है। अनगिनत गरीब और धनी, अशिक्षित और उच्च-शिक्षित, स्त्री और पुरुष पात्रों से संकुल हुए उपन्यास का चित्रित जीवन किसी स्थल में अविश्वसनीय नहीं होता-वहाँ भी नहीं, जहाँ नाटकीय घटनाएँ घट जाती हैं- क्योंकि लेखक ने उस सत्य का चित्रण अपना लक्ष्य रखा है, जो कभी-कभी गल्प से भी, सचमुच ही विचित्रतर होता है।

'मैला आँचल' की भाषा से हिन्दी समृद्ध हुई है। 'रेणु' ने कुशलता से ऐसी शैली का प्रयोग किया है, जिसमें आँचलिक भाषातत्त्व परिनिष्ठित भाषा में घुल-मिल जाते हैं। कोई कारण नहीं था कि वे अपनी शैली के सम्बन्ध में आत्मविश्वास के अभाव का परिचय-सा देते हुए, प्रत्येक अध्याय के बाद पाद-टिप्पणियों के रूप में प्रयुक्त आँचलिक शब्दों के परिनिष्ठित रूप भी प्रस्तुत करते हैं।

हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में, यदि गत्यवरोध था, तो इस कृति से वह हट गया है।

('आलोचना', वर्ष 1955 ई. से साभार)

शेक्सपियर : मिथक और यथार्थ

प्रभात रंजन

बोर्खेज की एक कहानी है जिसमें मृत्यु के बाद शेक्सपियर से जब यह पूछा जाता है कि तुम कौन हो जवाब में शेक्सपियर कहते हैं कि इसी प्रश्न का उत्तर जानने का प्रयत्न मैं जीवन भर करता रहा और इसी क्रम में मेकबेथ, जूलियस सीजर, हैमलेट, आदि-आदि पात्र गढ़ता रहा। लेकिन जीवन भर मैं यह नहीं समझ पाया कि मैं कौन हूँ। विलियम शेक्सपियर सचमुच अंग्रेजी के एक ऐसे लेखक हैं जिनके जीवन और कृतित्व को समझने के जितने प्रयास उनके जीवन के करीब चार सौ साल भी बाद भी हो रहे हैं उतने शायद ही किसी अन्य लेखक को लेकर पहले किए गए हों। *शेक्सपियर क्वार्टरली जर्नल* के मुताबिक हर वर्ष पुस्तकों, लेखों, शोध निबन्धों की शक्ल में शेक्सपियर से सम्बन्धित चार हजार कृतियाँ प्रकाश में आती हैं।

'एक शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ नियरली एवरीथिंग' जैसी मशहूर पुस्तक के लेखक बिल ब्रायसां की नई पुस्तक *'शेक्सपीयर : द वर्ल्ड ऐज स्टेज'* में शेक्सपियर के जीवन, उनके कृतित्व से जुड़े तथ्यों और उनके बारे में फैले तमाम भ्रमों को रोचक ढंग से समझने-समझाने का प्रयास किया गया है। पहले अध्याय *इन सर्च ऑफ विलियम शेक्सपियर* में लेखक ने इस पुस्तक के बारे में किसी पाठक के मन में उठने वाले इस सहज प्रश्न का स्वयं उत्तर दे दिया है कि शेक्सपियर के बारे में उपलब्ध मार-तमाम पुस्तकों के बावजूद आखिर एक और पुस्तक क्यों? ब्रायसां का स्पष्ट उत्तर है-'पुस्तक का उद्देश्य केवल इतना है कि आखिर तमाम उपलब्ध दस्तावेजों के आधार पर शेक्सपियर के विषय में सचमुच हम कितना जान सकते हैं।'

बहुत कुछ मध्यकालीन संत-कवियों की तरह लगभग दस लाख शब्दों का साहित्य पीछे छोड़ने वाले अंग्रेजी भाषा के इस महानतम नाटककार विलियम शेक्सपियर के जीवन और लेखन से सम्बन्धित प्रामाणिक साक्ष्य कम ही मौजूद हैं। पुस्तक में बिल ने बताया है कि लंदन में बसने और मशहूर नाटककार बनने से पूर्व के उनके जीवन के बारे में इतिहास में केवल चार प्रामाणिक साक्ष्य मिलते हैं- बचपन में हुए बपतिस्मा के सम्बन्ध में, विवाह और दो बच्चों के जन्म के सम्बन्ध में।

प्रामाणिक तौर पर इसका भी कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि वे देखने में कैसे लगते थे। इसी कारण समय-समय पर यह प्रामाणित किए जाने के प्रयास भी किए जाते रहे हैं कि वास्तव में विलियम शेक्सपियर के नाम से इंग्लैंड के स्ट्रेटफोर्ड कस्बे के जिस व्यक्ति को जाना जाता रहा है वह वास्तव में उन महान नाटकों का रचयिता था ही नहीं। अभी हाल में एक शोध सामने आया है जिसके

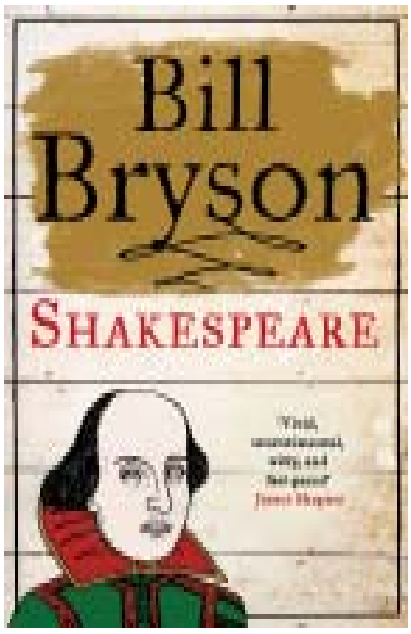

अनुसार शेक्सपियर के छद्म नाम से एक यहूदी महिला गुप्त रूप से लिखती थी। छद्म रूप से लिखने का कारण यह था कि एलिजाबेथकालीन लंदन में कोई महिला अपने नाम से रचना प्रकाशित नहीं करवा सकती थी।

बिल ब्रायसां की इस पुस्तक के नौवें अध्याय *क्लेमेंट्स* से यह पता चलता है कि ऐसा मानने वालों की एक लम्बी और सुदीर्घ परम्परा रही है कि वास्तव में विलियम शेक्सपियर के नाम से प्रचलित नाटक वास्तव में उन्होंने नहीं किसी और ने लिखे हैं। बिल ब्रायसां के अनुसार इस विषय में कम से कम पाँच हजार पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। इस तरह के विवादों की शुरूआत 19वीं शताब्दी में हुई। सबसे पहले यह कहा गया कि इन नाटकों के वास्तविक लेखक फ्रांसिस बेकन थे। अनेक विद्वानों का यह मानना था कि शेक्सपियर की रचनाओं में कुछ गुप्त कोड छिपे हैं जिनके माध्यम से उसके वास्तविक लेखक का पता लगाया जा सकता है। लेकिन जैसा कि शेक्सपियर विषय के विद्वान जोनाथन बेट ने लिखा है *न शेक्सपियर के जीवन काल में न ही उनकी मृत्यु के करीब दो सौ साल बाद तक किसी ने शेक्सपियर की लेखकीयता पर प्रश्नचिन्ह लगाया।*

प्रसंगवश। पिछले वर्षों पश्चिम की स्त्री-विमर्शकार जर्मेन ग्रेयर जिनकी पुस्तक 'दि फिमेल यूनक' (हिन्दी अनुवाद 'विद्रोही स्त्री') चर्चित रही है, ने 'शेक्सपियर्स वाईफ', जैसी पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने न केवल शेक्सपियर और उनकी पत्नी ऐनी के बारे में प्रचलित किंवंदतियों का निराकरण किया है बल्कि अपने शोध के आधार पर स्थापित किया है कि 16वीं. शताब्दी के एलिजावेथन युग

की नैतिक मर्यादाएँ क्या थीं। शेक्सपियर हमारे समय के एक बड़े कवि और नाटककार थे। अबतब प्रकाशित उनकी दर्जनों जीवनियों में पत्नी ऐनी के साथ उनके दाम्पत्य-सम्बन्ध को पारम्परिक ढंग से तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया जाता रहा है। यहाँ तक कि ऐनी से उत्पन्न उनके पहले बच्चे को 'जारज' (बास्टर्ड) कहा गया था। लेकिन शेक्सपियर और ऐनी के सम्बन्ध ऐसे नहीं थे। प्रचलित इतिहास के धुंधलके के बीच से विश्व प्रसिद्ध लेखिका जर्मेन ग्रेयर ने अब 'शेक्सपियर्स वाइफ' लिखकर उनके अध्येयताओं को एक बड़ी चुनौती दी है। इस पुस्तक में ग्रेयर ने कई ऐसी नई स्थापनाएँ की हैं, जो पश्चिमी समाज की नैतिकता को हिलानेवाली है। उन्होंने लिखा है-'इतिहास ऐनी के प्रति क्रूर रहा है। शताब्दियों तक विद्वानों और पत्रकारों ने उसे (ऐनी) एक ऐसी व्याभिचारी घरेलू औरत के रूप में चित्रित किया था जिसने दुर्भाग्यवश विलियम शेक्सपियर को कैद कर रखा था।' इस पुस्तक की समीक्षा करते हुए विलियम ली एडम्स लिखते हैं-'जैसी प्रचलित किंवदंती है-26 वर्षीया ऐनी ने 18 वर्षीय विलियम को फुसला लिया। ऐनी के गर्भवती होने के कारण जबर्दस्ती उनकी शादी हुई और विलियम इस स्थिति से घबराकर स्ट्राफोर्ड से लंदन भाग गए, जहाँ वे तुरन्त दुनिया के प्रसिद्ध नाटककार बन गए।'

जर्मेन ग्रेयर की इस शोधपरक पुस्तक से हमें पता चलता है कि एलिजावेथन युग के पुराअभिलेखों और उसके पाठ से ऐनी की जिन्दगी का जैसा सामाजिक पाठ अब तक किया गया है, खासकर उनके विरोधियों द्वारा गलत था। ग्रेयर की यह स्थापना है कि शेक्सपियर ने न केवल ऐनी से प्रेरणा ली, बल्कि वे उन्हें प्यार भी करते थे। शेक्सपियर की वसीयतनामा में मात्र ऐनी का नाम न होने के कारण अध्येयताओं ने खुशीपूर्वक एक कहानी गढ़ ली कि उसने एक नालायक औलाद को जन्म दिया, अपने बहनोई के साथ उसके प्रेम-सम्बन्ध थे और उसने एक पादरी तक को अपने प्रेम-जाल में फँसा लिया था। ग्रेयर का तर्क है कि विवाह करने तक ऐनी सामान्यतया एलिजावेथ युग की महिलाओं की शादी की उम्र 27 साल पार नहीं कर गई थी, और जमींदार घराने की होने के कारण उस कमसिन निर्धन लड़के को, जिसके पास ग्रामर स्कूल की शिक्षा के अलावा कुछ नहीं था, को फुसलाने से उसे क्या मिलने वाला था? बल्कि उल्टे अनिच्छुक निर्दोष बच्चे को फँसाने के चक्कर में वह खुद विकार्स कोट के सामने होती!

विलियम शेक्सपियर के समय-समाज को यदि हम इन दोनों पुस्तकों के आलोक में देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि शेक्सपियर

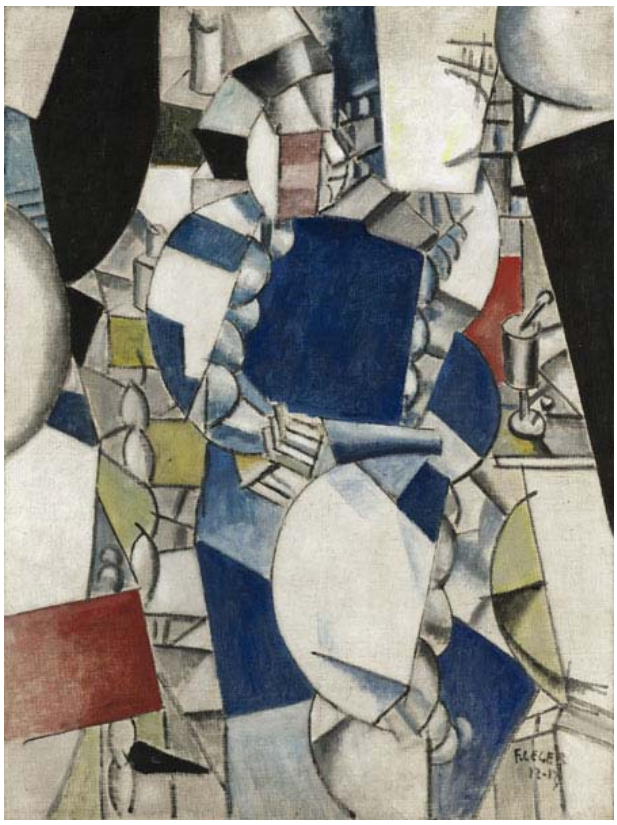

के जीवन में उनकी पत्नी ऐनी की एक बड़ी भूमिका थी।

केवल जीवन ही नहीं उनके नाटकों को भी इन पुस्तकों में उपलब्ध तथ्यों और दस्तावेजों के आधार पर परखने का प्रयास किया गया है। शेक्सपियर को भले अंग्रेजी भाषा की महान प्रतिभाओं में गिना जाता हो पर अंग्रेजी में इस विषय को लेकर पर्याप्त शोध हुए हैं कि उनकी भाषा कितनी त्रुटिपूर्ण थी। यह भी कहा जाता रहा है कि अपने नाटकों के लिए उन्होंने पहले से प्रचलित कथाओं को आधार बनाया। समीक्षित पुस्तक के पाँचवें अध्याय में लेखक ने उनके नाटकों से जुड़े कथा-सन्दर्भों की चर्चा के साथ यह भी बताया है कि मिडसमर नाइट्सड्रीम, लव्स लेबर इज लॉस्ट, द टेम्पेस्ट जैसी कुछ कामेडियाँ ही वास्तव में उनकी मौलिक रचनाएँ कही जा सकती हैं। एक महान लेखक किसी स्थानीय कथा को विराट सन्दर्भों से जोड़कर एक अविस्मरणीय कृति में बदल देता है। अंग्रेजी भाषा में शेक्सपियर ने यही काम किया। बिल ब्रायसां के अनुसार उनकी भाषा के भ्रष्ट होने के सम्बन्ध में चाहे कितने प्रमाण पेश किए जाएँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शेक्सपियर ने अंग्रेजी भाषा को दो हजार से अधिक नए शब्दों और सैकड़ों मुहावरों का उपहार दिया।

पुस्तक में लंदन को लेकर अनपेक्षित विस्तार है और शेक्सपियर के जीवन से जुड़े उन वर्षों को लेकर लेखक ने खूब अटकलें भी लगाई हैं जिनके बारे में ठीक से कुछ पता नहीं चलता। मगर इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक ने इस पुस्तक में शेक्सपियर के जीवन और रचनाओं से जुड़े मिथकों और यथार्थ को अलग-अलग परखने का प्रयास जरूर किया है। किस्सागोई की शैली पुस्तक को रोचक बनाती है। बहरहाल, पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लेखक अपनी ओर से निश्चयात्मक ढंग से कुछ नहीं कहता, वह पाठकों के सामने सारे उपलब्ध तथ्य रख देता है। बिल ब्रायसां अंग्रेजी के लोकप्रिय लेखक हैं, वे पाठकों की नब्ज पहचानते हैं। तकरीबन 200 पृष्ठों की इस पुस्तक का सबसे बड़ा आकर्षण पठनीयता है।

शेक्सपियर : द वर्ल्ड ऐज स्टेज/ बिल ब्रायसां/ रैंडम हाउस/ मूल्य : 395 रुपये

प्राध्यापक, जाकिर हुसैन महाविद्यालय (सायं)
जवाहरलाल नेहरू, मार्ग, नई दिल्ली-2

निराला का 'बंधु'

कुबेर दत्त

दिसम्बर 2008 के शुरुआती दिन थे। चीफ प्रोड्यूसर-पद से सेवा निवृत्ति में अभी तीन सप्ताह बचे थे। दोपहर बाद का समय था। अपने कमरे में बैठा था और कुछ गीतकार मित्रों से गीतविधा पर चर्चा हो रही थी। इसी बीच दूरदर्शन दिल्ली केन्द्र के एक साहित्यिक कार्यक्रम की पट प्रस्तोता युवती कमरे में आई। साहित्यिक कार्यक्रमों की रिकॉर्डिंग के सिलसिले में वह महीने में दो बार तो आ ही जाती थी। वह स्वयं कविताएँ लिखती है और प्रवासी भारतीयों की एक जानी मानी संस्था से ही नहीं उसकी साहित्यिक पत्रिका के सम्पादकीय विभाग से भी जुड़ी है।

कमरे में बैठे गीतकारों से मैंने उसका परिचय कराया। एक गीतकार राधेश्याम बन्धु भी थे। उनका नाम सुनकर कवयित्री महोदय के मुँह से सहसा निकला–''ओह तो आप है बन्धु जी! आपका तो वह गीत बहुत मशहूर है–''बाँधो न नाव इस ठांव बन्धु! पूछेगा सारा गाँव बँधु!!'' सब यह सुनकर हँसने लगे। बन्धु जी ने कहा–''आप मुझे महान न बनायें, यह गीत तो निराला जी ने लिखा था। यह सब देख-सुन कर मुझे गहरा क्षोभ हुआ! लोग अन्तरराष्ट्रीय हो गये मगर घोर अज्ञान के साथ! आज की युवा पीढ़ी में कितने होंगे जो किशोरी दास वाजपेयी, माखन लाल चतुर्वेदी, श्रीनारायण चतुर्वेदी, पदुम लाल पुन्नालाल बख्शी, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, रायकृष्णदास, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, रसाल, शील या मदन मोहन हरदत्त के अवदान को जानते हैं? विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इन विभूतियों के बारे में अनिवार्य तौर पर सामग्री होनी चाहिए। ताकि नई पीढ़ी को साहित्य के अतीत के वारे में ठीक से पता चला सका।

हरदत्त का जिन्दगीनामा

यह शीर्षक भी शायद ही किसी के जेहन में हो। कहीं होगा भी तो कुछ इस तरह कि कृष्ण सोबती और अमृता प्रीतम के बीच एक शब्द 'जिन्दगीनामा' को लेकर विवाद इतना गहराया कि दिल्ली हाईकोर्ट तक चला गया। जबकि इस मामले में विवाद की गुजांइश ही नहीं थी। अमृता प्रीतम की एक किताब आई थी–'हरदत्त का जिन्दगीनामा'। यह उस युवक क्रान्तिकारी की गाथा थी जिसने साइबेरिया की जेलों में डेढ़ दशक से भी ज्यादा अपना जीवन बिताया था। बाद में निर्दोष साबित होने पर इसी सरकार ने अपनी गलतियों और ज्यादतियों की भरपाई करने में कोई कसर छोड़ नहीं रखी। ताशकन्द विश्वविद्यालय के हिन्दी-उर्दू विभाग का अध्यक्ष उन्हें बनाया गया था। जो उनके जीवन की तकलीफों और प्रसन्नताओं को औपन्यासिक जीवनी के रूप में अमृता जी ने लिखा था। उसी के बाद लोग जान पाये थे कि मदनमोहन हरदत्त कौन है। किताब 'हरदत्त का जिन्दगीनामा' के 'जिन्दगीनामा' शब्द पर कृष्णा सोबती को कड़ा एतराज था। उनका मानना था कि यह शब्द उन्होंने ही मौलिक रूप में रचा है अत: इस पर सिर्फ उनका ही हक है। कोई दूसरा इसका इस्तेमाल करे तो अन्तरर्राष्ट्रीय इंटेलेक्चुअल प्रोपर्टी एक्ट के उल्लंघन के कारण सजा का पात्र होगा। अब यह लचर तर्क किसे मंजूर हो सकता है। भाषा पर, शब्दों पर कौन एक्ट लगायेगा। शब्दों से पुस्तक बनती है और शब्दों पर लड़ाई शब्दों से ही लड़ी जानी चाहिए और अकेले शब्दों से। मगर कृष्ण जी अड़ गईं और मामला कोर्ट में चला गया कालान्तर में वह खारिज भी हो गया, जोकि होना ही था।

1982-83 में मैंने मदन मोहन हरदत्त के जीवन पर एक छोटी फिल्म बनाई थी। तब वे कालकाजी की एक गन्दी बस्ती में, शोचनीय दशा में रहते थे। उनसे काफी निकटता हो गई थी। पचासों बार लम्बी-लम्बी बातें होती थीं। वैसे वे अपने एक मुसलमान दोस्त के साथ अफगानिस्तान के रास्ते, वेश बदल-बदल कर सोवियत संघ पहुँचे थे। मुसलमान दोस्त तो घबराकर अफगानिस्तान से ही वापस हो लिया था मगर भगतसिंह के आदर्शों के सहारे वे जरूर सोवियत संघ पहुँच गए थे। पर यह पहुँचना 'सुखद' नहीं था। उन्हें ब्रिटिश जासूस समझकर पुलिस ने गिरफ्तार किया। लम्बा ट्रायल हुआ। सुदूर साइबेरिया की एक जेल में बरसों पड़े रहे। जेल के जिस सेल में वे बन्द थे वहीं एक और कैदी भी था। था तो वह ज़हीन और साहित्य प्रेमी भी लेकिन गम्भीर किस्म के अपराधों की दुनिया में रम चुका था और जेल की सजा काट रहा था। उसके पास उसकी छोटी बहन के पत्र आते थे जिन्हें वह हरदत्त को भी पढ़वा देता। वे पत्र दोनों के लिये जीवन रेखा बनने लगे। उनमें आजाद धरती-आसमान, खेत खलिहान, फूलों-पत्तों, चिड़ियों-तितलियों नदी-पहाड़, झरनों का वर्णन होता था। नयी पुस्तकों-पत्रिकाओं की

जानकारियाँ होती थीं। बदलते सोवियत समाज के बारे में विवरण होते थे। दुनिया-जहान की बातें होती थीं। ये पत्र रोचक और प्रवहमान भाषा में लिखे हैं। लिखावट भी सुन्दर थी।

एक दिन मदनमोहन हरदत्त ने अपने साथी कैदी से कुछ हिचक के साथ पूछा- ''क्या तुम मुझे अपनी बहन का पता दे सकते हो। मैं भी उसे पत्र लिखना चाहता हूँ। शायद उसे अच्छे लगें और मेरे पत्रों का भी जवाब वह भेजे।'' साथी कैदी सहर्ष मान गया। हरदत्त वर्षों रूस में रह चुके थे। रूसी भाषा अच्छी तरह बोलते थे-लिखते भी थे। लड़की का नाम नतालिया था। हरदत्त ने अपना परिचय और अपनी बेगुनाही के बारे लिखकर नतालिया को भेजा। छोटी-छोटी कविताएँ भी लिखकर वे भेजते थे। सुखद आश्चर्य! हरदत्त जी के पत्रों के उत्तर आने लगे। पहले पत्र संक्षिप्त होते थे। बाद में विस्तार पाते गये। पत्रों के साथ नतालिया उन्हें पत्रिकाओं की कटिंगस, थियेटर के छोटे पोस्टर, पुस्तकों के अंश वगैरह भी भेजने लगी। पत्रों का सिलसिला कब दोस्ती में बदला और कब प्यार में, पता ही न चला। नतालिया ने हरदत्त की रिहाई के लिये कड़ी मेहनत की। वह भारतीय दूतावास के जरिये, किसी तरह भारत के विदेश मन्त्रालय तक कुछ दस्तावेज भिजवाने में सफल रही। आज़ाद भारत के पहले प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू तक मामला पहुँचा और उन्होंने जान लिया कि मदनमोहन हरदत्त बेकसूर है। उनके निजी प्रयासों से वे जेल से बाहर आए। उनका साथी अभी जेल में ही था। जेल के मुख्य द्वार पर एक हृष्टपुष्ट रूसी युवती हाथों में गुलदस्ता लिये खड़ी थी। वह नतालिया थी। अन्ततः दोनों ने शादी कर ली हरदत्त को ताशकन्द विश्वविद्यालय में एशियाई विभाग का अध्यक्ष बनाया गया। जहाँ वे कई वर्ष रहे। इन वर्षों में उनके कोई सन्तान न हुई तो उन्होंने एक जार्जियन अनाथ कन्या को गोद लिया और पालने-पोसने लगे।

ताशकन्द में कई वर्ष गुजरे मगर मदन मोहन हरदत्त का मन अब वहाँ नहीं लग रहा था। वे 'आजाद हिन्दुस्तान' को देखना चाहते थे। आखिरकार पत्नी और बच्ची को साथ लेकर वे दिल्ली जाने की तैयारियों में जुट गये। अपने परिवार जनों और नाते-रिश्तेदारों

को उन्होंने कई पत्र पहले ही भेज दिये थे। और यह सोचकर कि वे अपने वतन लौट रहे हैं जहाँ एक क्रान्तिकारी के रूप में उनका स्वागत होगा, वे दिल्ली के हवाई अड्डे पर उतरे। औपचारिकताएँ पूरी कर जब वे बाहर आये तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वहाँ कोई उन्हें लेने नहीं आया था। दोनों दुखी और मायूस रहे। हवाई अड्डे पर, सड़कों पर, मुहल्लों में, दफ्तरों में हिन्दुस्तानियों का व्यवहार देखकर वे क्षुब्ध हो उठे। यह कौन-सा हिन्दुस्तान है? भगतसिंह के सपनों और आदर्शों वाला तो नहीं। यहाँ तो आपाधापी है, मारामारी है, अराजकता है।

वे अपने गाँव भी गये मगर बचे-खुचे परिजनों ने उनमें कोई रुचि नहीं दिखाई। वे उनसे मिलना ही नहीं चाहते थे। उन पर जेल में लम्बा जीवन काटने का ठप्पा लगा था। वे किन्हें समझाते कि उन पर लगे आरोप झूठे थे और वे बेदाग और निर्दोष छूटे बल्कि विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर भी रहे।

हर तरफ से निराश होकर वे दिल्ली की कालकाजी की स्लम बस्ती में एक कमरे के मकान में रहने लगे। मगर बदहाली और गुरबत के चलते, जब उनकी पत्नी की सेहत गिरने लगी तो किसी तरह उन्हें मना कर और कड़ी मशक्कत के बाद हुई धन की व्यवस्था के बाद उन्होंने नतालिया को वापस रूस भेज दिया। यह आश्वासन देकर कि या तो हालात सुधरते हैं तो वे उसे वापस बुला लेंगे या फिर खुद ही रूस चले आयेंगे।... जब वे अकेले कालका जी की गन्दी बस्ती में रहते थे तब उन्हीं दिनों उनसे मेरी मुलाकात हुई थी और उसी के बाद मैंने उन पर फिल्म भी बनाई थी। उन्हीं दिनों एक शूटिंग के सिलसिले में

मुझे इलाहाबाद जाना पड़ा। फुर्सत के एक दिन मैं वहाँ पुस्तकों की एक दुकान में चला गया। अचानक देखा कि कुछ किताबों के बीच ऑक्सफॉर्ड की एक अंग्रेजी डिक्शनरी वहाँ उपेक्षित पड़ी है। वह पॉकेट डिक्शनरी थी। उसके शुरू के अनेक पृष्ठ फटे हुए थे। मगर बाद में 'जैड' तक के सभी पृष्ठ सुरक्षित थे। पीले पड़ गए पन्नों में जैड अक्षर तक मेरी उंगलियाँ उलट गयीं। वहाँ शब्द मिला Zindaginama मैं उछल पड़ा। मैंने दुकानदार से उसे खरीदने की इच्छा जाहिर की। वह हँसने लगा। 'अरे साहब, वैसे ही इसकी हालत खस्ता है। इसके क्या पैसे लेने। आप इसे रख लीजिये।'' मैं उसे दिल्ली ले आया। उसके जैड अक्षर वाले पन्ने की Zindaginama जहाँ लिखा था, जीरोक्स प्रति बनवाई और वह अमृता जी को दे आया। इसी दरमियान मुझे पता चला कि कलकत्ता के एक उर्दू अखबार में जिंदगीनामा नाम से एक कॉलम छपता था। मगर अखबार 15-20 साल पहले बंद हो चुका था मगर कलकत्ता के एक पुराने दोस्त ने बहुत जतन करके अखबार की फाइलें ढूँढ निकालीं और जिन्दगीनामा कॉलम की कई किस्तों की जीरोक्स प्रतियाँ मुझे भेज दीं और यह सामग्री भी मैंने अमृताजी को भिजवाई। मेरा इरादा किसी की हार-जीत का नहीं था, तथ्यों के आधार पर मामले को रफा-दफा कराना था ताकि लेखकीय सौहार्द खराब न हो। कुछ सामग्री जुटा कर कमलेश्वर जी ने भी अमृता जी की मदद की।

मदन मोहन हरदत्त ने अनेक लेख भारत की राजनीति और भारत के भविष्य पर लिखे थे। उन्होंने कई संस्थानों से जुड़कर शोध ग्रंथ तैयार कराए थे। ताशकंद विश्वविद्यालय में हिंदी-उर्दू की पढ़ाई को आसान और रोचक बनाने के लिए उन्होंने छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ छपाई थीं जो विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय हुई थीं। उन्हीं की तर्ज पर रूस के दूसरे विश्वविद्यालयों ने भी वैसा ही किया था। इन पुस्तिकाओं में दुनिया, रूस और भारत के साहित्यिक इतिहास, साहित्य और साहित्यकारों पर जानकारियाँ होती थीं। ये पुस्तिकाएँ सचित्र थीं। हमारे विश्वविद्यालय यदि ताशकंद विश्वविद्यालय से संपर्क साध कर इन पुस्तिकाओं के नमूने मँगवायें तो यह उपयोगी

होगा। मदनमोहन हरदत्त चाहते थे कि रूस से लौटने के बाद के उनके जीवन के उतार-चढ़ावों पर कोई व्यक्ति पुस्तक लिखे तो यह पाठकों को अच्छा लगेगा। शायद कभी कोई लिखे। शायद मैं ही।

ओमान के कंठ में हिन्दी

उसका नाम आसमा मोहम्मद है। वह मस्कट में रहती है। मगर अब उसका ज्यादा वक्त मुम्बई में गुजरता है। वह हिन्दी फिल्मों की नयी गायिका है। उम्र 18 साल। वे कुल 8 भाई बहन हैं। वह मस्कट में जाना पहचाना नाम नहीं था लेकिन कई संगीत प्रतियोगिताओं में जीत हासिल करने के बाद अब वह भारत और ओमान में जानी-पहचानी जाती है।

उसके पिता को मुहम्मद रफी के गाने दीवानगी की हद तक पसन्द रहे हैं। और महज इसीलिये उन्होंने हिन्दी सीखी थी और अपनी बेटी को सिखाई। वह बहुत अच्छी हिन्दी सीख ही नहीं गई, हिन्दी में गाने भी लगी। सन् 2006 में उसके पिता ने एक संगीत प्रतियोगिता में हिस्सा लिया था। यहाँ उन्हें कई अच्छे दोस्त मिले जैसे बाली ब्रहमभट्ट। उन्होंने ब्रहमभट्ट से अपनी बेटी का जिक्र किया। तय हुआ कि वह मुम्बई आएगी, संगीत प्रतियोगिताओं में गाएगी। अपनी जगह बनाएगी। उसने बड़ी मेहनत की। जगह बनाई। आज वह कई फिल्मों के लिये गीत रिकॉर्ड कर चुकी है। उसके पिता का नाम भी मोहम्मद है जो उसके दादा ने रखा था क्योंकि वह भी रफी के दीवाने थे।

बहुत पहले जब मशहूर गायिका एम.एस. सुब्बलक्ष्मी ओमान गई थीं तो वहाँ की लोकप्रिय गायिका कुलसूम ने सुब्बलक्ष्मी को मीठे शहद का दरिया कहा था। अब एक और मीठे शहद का दरिया अरब से बहता हुआ मुंबई के अरब सागर तक आ पहुँचा है। संगीत यही करता है वह दिलों को जोड़ता है। आत्माओं को तृप्त करता है।

कुछ ऐसा ही मुझे 29 जनवरी 09 की शाम में लगा था जब मैंने हबीब तनवीर की बेटी नगीन तनवीर को बहुत वर्षों बाद वर्धा में फिर सुना। दिल्ली में जन्मी, वहीं बचपन बीता। पिता की छत्रछाया में सीखने के लिए एक मुक्त विश्वविद्यालय मिल गया। गायन, नृत्य, नाट्य में पारंगत हुई। उच्च शिक्षा भी प्राप्त की। बाद में सुप्रसिद्ध संगीतविदुषी सुलोचना बृहस्पति से शास्त्रीय संगीत सीखा। इसके पहले शर्वरी मुखर्जी दीपाली नाग से भी सीखा था। इन दिनों गुंदेचा बंधुओं से सीख रही है। बचपन से ही पंथी संगीत की दीवानी थी, आज भी वह बुंदेलखंड, छत्तीसगढ़, बंगाल, पूर्वांचल और उत्तर-पूर्व के अनेक जनपदों का लोकसंगीत गाती है। शास्त्रीय संगीत की शिक्षा ने उसके गायन को नया निखार और पारदर्शीपन दिया। बचपन से ही हबीब तनवीर के नाटकों में, अभिनय, नाट्य, नृत्य और गायन किया। देश-विदेश में खूब मशहूर हो चुकी नगीन का स्वभाव पहले जैसा ही सरल और सलोना है। महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित हिंदी समय आयोजन की सांस्कृतिक संध्याओं की एक शाम नगीन के नाम थी। उसके सुर विश्वविद्यालय की उस पहाड़ी से उड़कर कोटि-कोटि कंठों को आर्द्र कर रहे थे। वह अरठी गायिका है और लोकसंगीत-गायन को उसने नये आयाम दिए हैं। नगीन में अपनी मौलिक प्रतिभा है, लेकिन यह भी सच है कि हबीब तनवीर की बेटी होना एक उपलब्धि अपने आप में ही है।

नगीन तनवीर इन दिनों रानी कर्णा के शिष्य विक्रम आयंगार के निर्देशन में नृत्य-नाट्य-संरचनाओं में व्यस्त हैं। नगीन को सुनने का अर्थ है पुनर्नवा होना।

159, आकाश दर्शन आपर्टमेन्ट्स, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091

चिड़िया नहीं होती तो जंगल उदास होता

प्रज्ञाचक्षु

'पूर्वग्रह' का पुनर्प्रकाशन

भारत भवन, भोपाल से निकलने वाली त्रैमासिक पत्रिका 'पूर्वग्रह' के 124 वें अंक के पुनर्प्रकाशन से साहित्यिक पत्रकारिता में एक नया अध्याय जुड़ने की उम्मीद लगती है। यह त्रैमासिक आलोचना पत्रिका अशोक वाजपेयी के प्रधान सम्पादन में लगभग 35 वर्ष पहले 1974 में निकली थी, जो एक अरसे से बन्द थी। इस पत्रिका का सौवां अंक 'आलोचना समवाय' के रूप में अशोक जी के ही सम्पादन में निकला था। आरम्भ में

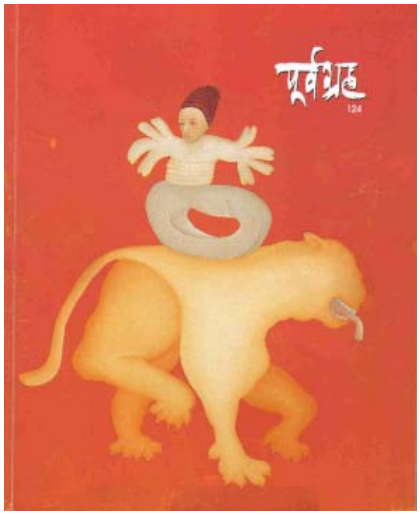

मदन सोनी, मंगलेश डबराल और उदय प्रकाश जैसे रचनाकार इस पत्रिका से जुड़े हुए थे। 'पूर्वग्रह' के प्रवेशांक पर टिप्पणी करते हुए मलयज ने रमेशचन्द्र शाह को एक पत्र में लिखा था–'पूर्वग्रह' का अंक भी मिला। जो बात सबसे पहले मन में आई वह यह कि समकालीन उदासीनता का जवाब आलोचना नहीं रचना है'। 23.10.74 के पत्र में पत्रिका के दूसरे अंक पर उनकी टिप्पणी है– 'पूर्वग्रह 2' तो बड़ा कमजोर है, तुम्हारे लेख के सिवा कोई मार्के की चीज नहीं। विजेन्द्र का लेख तो सड़ियल है। उसे छापने का क्या तुक?–क्या इसलिए कि उसमें अशोक का जिक्र है? या इसलिए कि एक वामपन्थी को फोड़ लिया? (रंग अभी गीले हैं : मलयज के पत्र', पृ. 106) साहित्य अकादेमी के सभागार में 04 फरवरी 2009 को 'पूर्वग्रह' के लोकार्पण के अवसर पर समालोचक प्रो. नामवर सिंह ने कहा कि पत्रिकाओं को राजनीतिक दलों के विचारों से मुक्त रखकर ही साहित्य की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखी जा सकती है। राज्यों में सत्तारुढ़ राजनीतिक दलों के विचारों के प्रभाव में आये बिना साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन दुर्लभ है। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि आज के जिस दौर में लोकतन्त्र ही खतरे में है, उस दौर में हम साहित्य का एक ऐसा कोना सुरक्षित रख सकें जिसमे हर विचार के लिए जगह हो, तो यह बेहतर है। उन्होंने सुझाव दिया कि 'पूर्वग्रह' की प्रसार संख्या बढ़ाने की चिन्ता करने की जगह उसकी गुणवत्ता कायम रखने की चिन्ता की जानी चाहिए। उन्होंने साहित्य में स्त्री-विमर्श, दलित विमर्श और क्षेत्रीयता वगैरह की तरफ कटाक्ष करते हुए चेताया कि यदि वोट बैंक के आधार पर पत्रिकाएँ चलेंगी तो वे नष्ट हो जाएंगी। वे 'सरस्वती' नहीं रहेगी; वे 'हंस' के नाम पर कौआ बनकर रह जाएंगी। वरिष्ठ कवि कुँवर नारायण ने अपने सम्बोधन में कहा कि कई उतार-चढ़ावों के बावजूद इस पत्रिका ने अपना स्तर बनाये रखा और 'पूर्वग्रह' होने के बावजूद सभी तरह के विचारों का सम्मान किया। उन्होंने आशा व्यक्त की कि नए रूप में प्रकाशित यह पत्रिका और भी बड़े साहित्यिक परिप्रेक्ष्य को समेट कर निकलती रहेगी। प्रतिष्ठित कथा लेखिका कृष्णा सोबती ने 'पूर्वग्रह' की आलोच्य दृष्टि के अमूल्य योगदान को रेखांकित करते हुए कहा कि विचारों की आमने-सामने की टकराहट से एक प्रकार का सकारात्मक तनाव उत्पन्न होता है जो अपनी और दूसरी विचारधाराओं की गहरी टोह लेता है। उन्होंने कहा कि यदि लेखकगण सत्ता के गलियारों के सामने हड़ताल बजाने लगेंगे तो पत्रिकाओं की हरारत ठंडी पड़ जाएगी।

'पूर्वग्रह' के प्रधान सम्पादक प्रभाकर श्रोत्रिय ने इस अवसर पर कहा कि पिछले 20 वर्षों में 'पूर्वग्रह' लड़खड़ाती रही और लगभग बन्द रही है। अब इसका पुनर्प्रकाशन हो रहा है और इसमें साहित्य की रचनाओं के अलावा कलाओं और लोककलाओं की विवेचना भी होगी। उन्होंने कहा कि 'पूर्वग्रह' में नाम को छोड़कर किसी तरह का पूर्वग्रह नहीं है। कार्यक्रम के आरम्भ में भारत भवन, भोपाल के न्यासी सचिव मनोज श्रीवास्तव ने उम्मीद जताई कि 'पूवग्रह' की पुनर्प्रस्तुति एक तरह का नया प्रस्थान बिन्दु होगा। इस अवसर पर श्रोता के रूप में पत्रिका के संस्थापक संपादक की विनम्र उपस्थिति चौंकानेवाली थी।

विद्वान चिरंजीवदास (1921-1998) का स्मरण

संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य के विद्वान चिरंजीव दास की 88वीं जयन्ती के अवसर (21 जनवरी, 2009) पर सातवें चिरंजीव दास स्मृति व्याख्यानमाला एवं एकल काव्य पाठ के अन्तर्गत रायगढ़ में वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह का काव्य-पाठ हुआ। इस अवसर पर

बोलते हुए श्री सिंह ने कहा कि छोटे-छोटे शहरों के ताप से यह दुनिया चलती है। छत्तीसगढ़ के रायगढ़ में चिरंजीव दास स्मृति एवं अध्ययन केन्द्र सही मायने में वह काम कर रहा है जो हमारी संस्कृति को बदलने के उपक्रम के तहत निरन्तर ही किए जाने चाहिए। उन्होंने चिरंजीव दास को एक महत्वपूर्ण कवि बताते हुए कहा कि उनकी स्मृति में यहाँ जो काम हो रहा है, यह बहुत बड़ा काम है, यह क्षेत्रीय काम है पर इसकी गूँज राष्ट्रीय धारा तक पहुँचे ऐसा प्रयास किया जाना चाहिए। इस अवसर पर केदारनाथ सिंह के काव्य व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए आलोचक प्रभात त्रिपाठी ने कहा कि केदारनाथ सिंह की कविता पिछले 50 वर्षों के इतिहास का एक प्रमाणिक दस्तावेज़ है। उनकी कविता ग्रामीण जीवन से जुड़ी हुई होकर भी आधुनिक सभ्यता के संघर्षों को केन्द्र में रखती है। काव्य-पाठ के इस सत्र की अध्यक्षता कवि-चित्रकार विश्वरंजन ने की। उन्होंने केदारनाथ सिंह को एक बड़ा कवि बताते हुए अपना अत्यंत प्रिय कवि भी बताया। उन्होंने कहा कि मेरे कवि होने में उनका बड़ा योगदान है। क्योंकि मैं छात्र जीवन से ही उनकी कविताओं से बेहद प्रभावित रहा। इस अवसर पर प्रकाशित स्मारिका का महत्व इस दृष्टि से है कि यह औपचारिक मात्र नहीं है बल्कि अशोक वाजपेयी, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजेश जोशी, विनोद कुमार शुक्ल आदि ने उनके कृतित्व और व्यक्तित्व को अनेक अछूते कोने से उठाया है। पं. चिरंजीवदास ने भर्तृहरि के 'वैराग्य शतक' का हिन्दी में अनुवाद किया था। अशोक वाजपेयी बताते हैं कि इसी से कवि ऋतुराज ने अपने कविता संग्रह' आशा नाम नदी' का शीर्षक लिया है। हिन्दी की दुनिया बहुत बड़ी है, उसके कोने-अन्तरे में छिपे अनेक ऐसे लेखक हैं, जिनके बारे में हमें ठीक से नहीं मालूम।

निराला पर्व-8

हिन्दी अकादमी, दिल्ली महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की स्मृति में पिछले सात वर्षों से प्रति वर्ष निराला पर्व का आयोजन करती आ रही है खानापूर्ति के तौर पर। न निराला की कविता को समझते हुए और न समझाते हुए। बिल्कुल अकादेमिक ढंग से। इस वर्ष इस आयोजन का आरम्भ 9 फरवरी, 2009 को निराला की कालजयी कविता 'राम की शक्तिपूजा' पर अनुप्रिया देवताले द्वारा वायलिन वादन से हुआ। स्थानीय त्रिवेणी सभागार में इस आयोजन के उद्घाटन के अवसर पर अकादमी के नये सचिव ज्योतिष जोशी ने निराला को 20वीं सदी का निर्विवाद रूप से सबसे बड़ा कवि बताते हुए हिन्दी साहित्य में उनकी युग प्रर्वतक भूमिका को रेखांकित किया। निराला पर्व के अन्तर्गत आयोजित गोष्ठी 'निराला के उपन्यास : कल्पना से यथार्थ की यात्रा' सत्र की अध्यक्षता करते हुए वरिष्ठ कथाकार दूधनाथ सिंह का मानना था कि महाकवि निराला अपने उपन्यासों में संस्कारों को धक्का लगाने का काम बखूबी करते हैं, संस्कार ही वह कारण है जो हमारे अन्दर गहरे बैठकर हमारे विकास को रोकता है। गोपश्वर सिंह ने कहा कि निराला के उपन्यासों में रुढ़िवादिता, सामन्ती जड़ता, जातिवाद के विरोध और स्त्री व अछूतों की मुक्ति के भरपूर प्रसंग मिलते हैं। बलराज पाण्डेय, हरदयाल एवं रामदेव शुक्ल ने भी विस्तार से इस प्रसंग पर चर्चा की। अगले दिन के सत्र का विषय था 'निराला और भारतीय काव्य परम्परा', जिसकी अध्यक्षता कर रहे प्रो. राममूर्ति त्रिपाठी ने स्पष्ट किया कि विकास का सम्बन्ध परम्परा की जड़ में

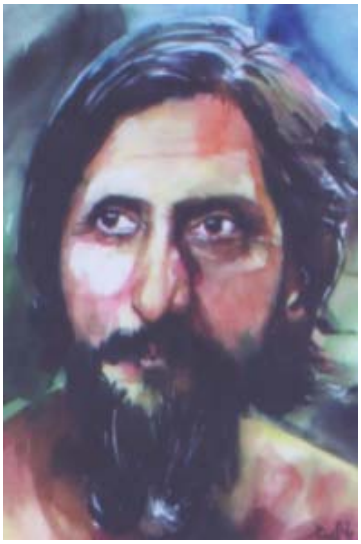

निहित होता है। आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा कि निराला बिम्बों के पर्वत नहीं पूरा हिमालय ही उठाते हैं। विजय बहादुर सिंह का मानना था कि स्वच्छंदता कहीं न कहीं परम्परा की कोख से पैदा होती है। कृष्णदत्त पालीवाल ने निराला का विश्लेषण रीति के पक्ष और विरोध दोनों में किया। कुलपति राधावल्लभ त्रिपाठी ने कहा कि निराला को समझने के लिए संस्कृत का अच्छा ज्ञान जरूरी है। तीसरे दिन के सत्र में 'निराला की पाँच कविताएँ-पाँच वक्तव्य' पर कवि-आलोचक विष्णु खरे ने अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए कहा कि निराला अपनी कविताओं के चरित्र में प्रवेश कर जो रचते हैं, वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना 60-70 साल पहले था। नीलाभ ने निराला की 'बादल राग' कविता की चर्चा करते हुए कहा कि निराला कभी भी सीधी रेखा में नहीं चलते। विजय कुमार ने 'हताशा' और बद्रीनारायण ने 'वह तोड़ती पत्थर' कविता को केन्द्र में रखकर अपनी बात की। संगोष्ठी के अन्तिम दिन 'हिन्दी कवियों के बीच निराला' के अन्तर्गत ज्ञानेन्द्र पति ने कहा कि निराला के सृजन के कई संस्तर ही नहीं वह प्राणतत्त्व भी दिखाई देता है जो उनकी पहचान है। अरुण कमल ने कहा कि अपने जीवन में भोगे दुखों से ही निराला निराला बने। व्योमेश शुक्ल का कहना था कि निराला हम युवा कवियों के लिए एक स्मृति नहीं उपलब्धि हैं। गोष्ठी के बाद निराला की 'राम की शक्ति पूजा' पर प्रिया वेंकटरमण की भरतनाट्यम प्रस्तुति हुई। हैरानी की बात

यह है कि किसी वक्ता ने यह नहीं कहा कि डॉ. रामविलास शर्मा के बाद निराला की कविताओं के टेक्स्ट से गुजरते किस आलोचक ने निराला को ठीक से हिन्दी कविता के इतिहास में वस्तुत: प्रतिष्ठित किया।

स्मृति : सुदीप बनर्जी

सुदीप खुले मन से भाषा की संवेदनशीलता महसूस करते थे। उन्होंने बांग्ला भाषा से अलग हटकर हिन्दी में भी रचनाएँ कीं। यह बात वरिष्ठ कवि कुवँर नारायण ने सुदीप बनर्जी की याद में 14 फरवरी को साहित्य अकादेमी सभागार में आयोजित स्मृति सभा में कही। हिन्दी के अलक्षित कवि सुदीप बनर्जी का पिछले दिनों 10 फरवरी, 2009 को निधन हुआ। वे पिछले कुछ समय से गले के कैंसर से पीड़ित थे। कुँवर जी ने कहा कि सुदीप वह व्यक्ति हैं जिन्होंने भलमानसाहत के अर्थ को बहुत बड़ा किया है–कवि के रूप में भी और व्यक्ति के रूप में भी। मैंने उनमें कई बार शुभचिन्ता देखी। लेकिन उनसे बातचीत न करने के अपराध-बोध से मैं भरा हुआ हूँ। विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा कि जब हम सुदीप के बारे में विनम्र, भलमानुष आदि विशेषण लगाते हैं तो लगता है कि वे सार्थक हैं। अरुण कमल ने सुदीप जी की कविता पंक्ति का सहारा लेकर कहा कि वह सिक्का कहीं खो गया है। आलोचक पुरुषोत्तम अग्रवाल का कहना था सुदीप जी जीवन से बहुत गहरे जुड़े थे। भारत भारद्वाज ने एक बड़ा सवाल उठाया कि हम चर्चा करने के लिए किसी लेखक के मरने का इन्तजार क्यों करते हैं और फिर उसका प्रशस्ति गान करते हैं? उन्होंने आगे कहा कि वे सुदीप जी से पहले-पहले बतौर एक अच्छे सम्पादक और कवि के रूप में परिचित हुए। विष्णु नागर का मानना था कि सुदीप जी जनजीवन से गहरा लगाव रखते थे, साहित्य तो उनका बहुत छोटा हिस्सा था। मंगलेश डबराल ने कहा कि सुदीप जितने अच्छे कवि थे उतने ही अच्छे इंसान थे। वे एक सक्रिय भूमिका निभाना चाहते थे। कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी ने कहा कि यह बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि अर्जुन सिंह की राजनीति को नई दिशा देने में सुदीप का ही हाथ है। मध्य प्रदेश में सिंह के किए गए तमाम जनकल्याणकारी कार्यों की रूपरेखा सुदीप ने ही तैयार की। विष्णु खरे ने कहा कि सुदीप की कविताओं में पहला असर चन्द्रकान्त देवताले का दिखाई देता है। मुझे म. प्र. के दो बड़े सम्मान सुदीप के कारण ही मिले हैं, वह गुप्तदान करता था। गोष्ठी का संचालन कवि लीलाधर मंडलोई ने किया। उन्होंने उनकी याद में एक लम्बी कविता 'महज शरीर नहीं पहन रखा था उसने' पढ़ी। आरम्भ में दूरदर्शन के नजरिया कार्यक्रम के अन्तर्गत सुदीप जी से अन्तिम बातचीत दिखाई गई। कुबेरदत्त ने सुदीप जी की दो कविताएँ पढ़ीं। सुदीप जी की स्मृति में यह आयोजन न केवल गरिमामय था, बल्कि भावनात्मक भी कम नहीं।

स्मृति सभा

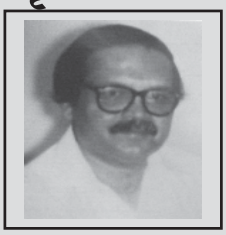

सुदीप बॅनर्जी

(16 अक्तूबर 1946-10 फरवरी 2009)

जीवन के वे सभी प्रश्न कमोबेश
जिन्हें लेकर चले आए इस मुक़ाम तक
निर्विघ्न तो नहीं यात्रा फिर भी
बचे तो रहे, बचे-खुचे ही सही–
अब सारे प्रश्न सहसा बदल गए
आदमज़ाद होना ही अपना
आख़िरी सिक्का था जेब में, खोटा पड़ गया

साहित्य अकादेमी का साहित्योत्सव

साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित 23 भारतीय भाषाओं के लेखकों को 17 फरवरी, 2009 को कमानी सभागार, नई दिल्ली में हुए समारोह में पुरस्कार प्रदान किए गए। हिन्दी के वरिष्ठ कथाकार गोविन्द मिश्र को उनके उपन्यास 'कोहरे में कैद रंग' पर पुरस्कार दिया गया। प्रसिद्ध बांग्ला कवि नीरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती पुरस्कार अर्पण समारोह के मुख्य अतिथि और वियतनाम से आई आनन्द कुमार स्वामी फैलो डो थु ह समारोह की विशिष्ट अतिथि थीं। समारोह में उड़िया कवि रमाकान्त रथ और उर्दू आलोचक गोपीचन्द नारंग को अकादेमी की महत्तर सदस्यता दिये जाने की भी घोषणा की गई। महत्तर सदस्यता अकादेमी का सर्वोच्च सम्मान है।

अकादेमी पुरस्कार पाने वाले रचनाकारों को अकादेमी के अध्यक्ष सुनील गंगोपाध्याय ने उत्कीर्ण ताम्रफलक, शाल और 50 हजार रुपये की राशि देकर सम्मानित किया। पुरस्कृत रचनाकारों में राजस्थानी के 44 वर्षीय दिनेश पांचाल सबसे कम उम्र के और नेपाली के 90 वर्षीय हायमन दास राई 'किरात' सबसे बुजुर्ग थे। अस्वस्थ होने के कारण किरात पुरस्कार लेने नहीं आ पाये। उनके पुत्र ने पुरस्कार प्राप्त किया। अंग्रेजी भाषा के लिए इस बार पुरस्कार नहीं दिया गया। इस बार सात उपन्यास, सात काव्य संकलन, पाँच कहानी संग्रह, तीन समालोचनात्मक निबन्ध और एक संस्मरण की पुस्तक को अकादेमी पुरस्कार के लिए चुना गया। अकादेमी के अध्यक्ष सुनील गंगोपाध्याय ने अपने अध्यक्षीय व्याख्यान में अंग्रेजी के बढ़ते वर्चस्व और दूसरी भाषाओं के भविष्य का सवाल उठाते हुए कहा कि अंग्रेजी भाषा के विस्तार के

बावजूद कुछ भाषाएँ इतनी बड़ी हैं कि अंग्रेजी उन्हें निगल नहीं सकती। उन्होंने कहा कि ज्यादातर भारतीय अपनी मातृभाषा से दूर नहीं हुए हैं। लोगों का मातृभाषा के प्रति भावानात्मक लगाव है। मातृभाषा से दूर नहीं हुए हैं। लोगों का मातृभाषा के प्रति भावानात्मक लगाव है। अकादेमी के सचिव अग्रहार कृष्णमूर्ति ने अपने स्वागत वक्तव्य में अकादेमी की गतिविधियों, कार्यक्रमों पुरस्कार के बारे में विस्तार से जानकारी दी।

साहित्योत्सव के अवसर पर सन्त तुकाराम के चतुर्थ जन्मशतवार्षिकी के अवसर पर तीन दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी भी आयोजित की गई। जिसमें 'सबद-गायन : सन्त तुकाराम और भक्ति परम्परा' विषय पर अपने उद्घाटन भाषण में हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक प्रो. नामवर सिंह ने कहा कि सूफी और सन्त परम्परा को इतिहासकारों का मध्यकालीन कहना उचित नहीं है। उन्होंने कहा कि समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं का उदय सन्त परम्परा से ही हुआ है। उन्होंने तुकाराम की परम्परा को प्रेमचन्द से जोड़ते हुए कहा कि तुकाराम के यहाँ भी दु:ख की कहानी मजे लेकर बयान की जाती है। वरिष्ठ मराठी लेखक भालचन्द नेमाडे ने अपने बीज भाषण में कहा कि किसी भी कवि या लेखक के लिए यह जरूरी नहीं कि वह बड़े शहर या महानगर में पैदा हुआ हो, जैसे तुकाराम एक छोटे से गाँव देहू में पैदा हुए, फिर भी अपनी पहचान विश्व स्तर पर बनाई। उन्होंने कहा कि मुगलों ने भारत का भौगोलिक विस्तार किया जबकि सन्तों ने सांस्कृतिक विस्तार। उन्होंने भारतीय साहित्य को भारतीय परम्परा में तलाशे जाने की जरूरत भी बताई। अकादेमी के अध्यक्ष सुनील गंगोपाध्याय ने इस अवसर पर सन्त तुकाराम की अंग्रेजी में अनूदित कुछ कविताओं का पाठ किया। संगोष्ठी के पहले सत्र 'तुकाराम-पूर्व वारकारी परम्परा' की अध्यक्षता कर रहे सदानन्द मोरे ने कहा कि वारकरी सम्प्रदाय महाराष्ट्र की संस्कृति का प्रमुख हिस्सा है। वारकरी महाराष्ट्र के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन की मुख्य धारा रही है और अब भी है। प्रो. एन. एन. रेलेकर ने कहा कि वैश्वीकरण, औद्योगीकरण और उदारीकरण के इस युग में भी सन्त नामदेव के सिद्धान्त और अभंग आज भी हमारा मार्गदर्शन उसी तरह करते हैं जिस तरह उस युग में करते थे। डा. मुकुन्द दातार ने कहा कि तुकाराम के स्फुट काव्यों की शृँखला अभंग गाथा को 'पंचमदेव' भी कहा जाता है। वह वास्तव में तुकोपनिषद है। यह अभंग गाथा मराठी लोगों की हृदयनिधि है। उन्होंने कहा कि तुकाराम को प्रगतिशील मराठी संस्कृति का केन्द्रवर्ती व्यक्ति भी कहा जा सकता है। वे सभी में आत्मभाव और सम्भाव की अनुभूति करने वाले सन्त थे। 'मराठी में तुकाराम का अभिग्रहण', 'जाति के खिलाफ विद्रोह', 'भक्ति : एक सामाजिक समीक्षा की ओर', 'विभिन्न सजगताएं', 'जन-धर्म', 'सिनेमा का प्रतिनिधित्व : सिनेमा में भक्ति', 'भक्ति और सामाजिक आन्दोलन', 'भक्ति गायन' 'अन्तर्राष्ट्रीय मातृभाषा दिवस' एवं 'गीति-काव्य' जैसे विषयों पर भी विद्वानों ने अपने विचार रखे। अन्तरराष्ट्रीय मातृभाषा दिवस के अवसर पर अकादेमी की ओर से सॉफ्टवेयर टूल एवं फॉण्ट की सी.डी. का नि:शुल्क वितरण किया गया।

'समयांतर' के दस वर्ष

14 फरवरी, 2009 को 'समयांतर' मासिक के पुनर्प्रकाशन के दस वर्ष पूरे होने पर सम्पादक पंकज विष्ट ने लेखक-मित्रों को आमन्त्रित करके पत्रिका के नये अंक (फरवरी,

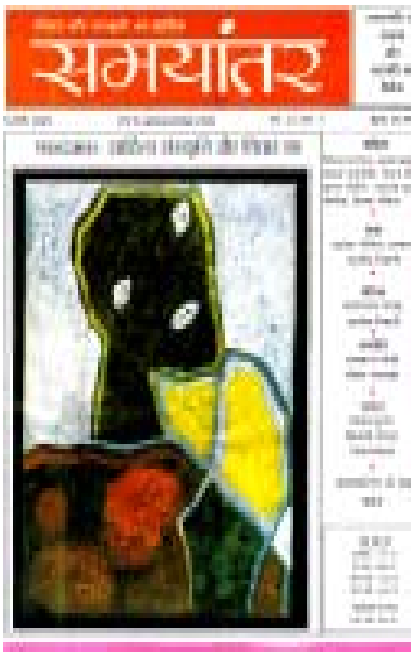

2009) 'एक दशक : साहित्य और विचार का' जिसका अतिथि सम्पादन रामाज्ञा शशिधर ने किया है, के प्रकाशन के अवसर पर दिल्ली के लेखकों की एक अनौपचारिक गोष्ठी आयोजित की।

प्रभा खेतान की स्मृति

डा. प्रभा खेतान मात्र स्त्री-विमर्शवादी लेखिका नहीं थीं; अपने रचनात्मक लेखन से उन्होंने

कविता और कथा साहित्य में भी हस्तक्षेप किया था। और कुछ नहीं तो उनके उपन्यास 'छिन्नमस्ता', 'पीली आँधी', उनकी आत्मकथा' 'अन्या से अनन्या' के साथ सिमोन द वोअवार की पुस्तक' दि सेकेंड सेक्स' के अनुवाद को हम याद कर सकते हैं। पिछले दिनों आई. आई. सी. में जुटे लेखकों ने न केवल उनको याद किया बल्कि प्रभा खेतान फाउंडेशन और व्याख्यानमाला के सम्बन्ध में अपने सुझाव भी रखे। उनके सुपुत्र संदीप भुतोड़ीया ने लेखकों के प्रति आभार प्रकट किया तथा आश्वासन दिया कि इस दिशा में वे शीघ्र कुछ ठोस कदम उठायेंगे।

बच्चन जन्मशताब्दी

इलाहाबाद संग्रहालय में साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली के सौजन्य से सम्पन्न 'बच्चन जन्मशताब्दी' के अवसर पर आयोजित दो दिवसीय (17-18 जनवरी, 2009) संगोष्ठी इस दृष्टि से उल्लेखनीय रही कि बच्चन के कवि और उनके गद्यकार को हमने नये दृष्टिकोण से अन्वेषित किया। बच्चन को

लम्बी उम्र मिली। इसलिए भी उनके अवसान और शताब्दी का अन्तराल छोटा है। वे लोगों की स्मृतियों में अब भी जीवित हैं। लेकिन इस शताब्दी समारोह में उत्तर छायावादी कवि बच्चन और दिनकर की कविता को वक्ताओं ने जिस तरह उठाया और बच्चन की आत्मकथा को जिस तरह सच्चाइयों से सामने लाया, अद्‌भुत था। एक वक्ता ने कहा कि बच्चन की आत्मकथा का आरम्भ दिलचस्प कहानी की तरह होता है और अन्त उपन्यास की तरह।

उपन्यास 'रेत' को फाँसी

पिछले दिनों कन्नौज जिले के छिबरामउ

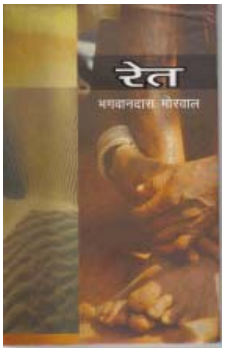

तहसील मुख्यालय में वहां के किसी भारतीय आदिवासी गिहार समाज विकास सेवा समिति उत्तर प्रदेश, के प्रान्तीय उपाध्यक्ष व पूर्व सभासद दिनेश गिहार ने प्रथम श्रेणी के जूनियर मजिस्ट्रेट की अदालत में आईपीसी की धारा 500 के अन्तर्गत 'रेत' उपन्यास के लेखक भगवानदास मोरवाल के खिलाफ मुकद्‌मा दायर किया है। गिहार जनजाति से ताल्लुक रखने वाली महिलाएँ उपन्यासकार पर अपनी बेइज्जती का आरोप लगाकर उसके लिए बद्‌दुआ माँग रही हैं, टोने-टोटके किए जा रहें हैं कि उपन्यासकार का सर्वनाश हो जाए। यही नहीं, विवादास्पद उपन्यास को एक प्रतीकात्मक विरोध प्रदर्शन में फाँसी भी दी जा चुकी है। ऐसे में लेखक का कहना है कि बिना उपन्यास को पढ़े कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए। वैसे भी 'रेत' के केन्द्र में गिहार समुदाय नहीं स्वतंत्रतापूर्व की तथाकथित अपराधी कंजर जनजाति है–जिसके जीवन-संस्कृति और नई चेतना को लेखक ने हार्दिकता के साथ उठाया है। संकट से घिरे हिंदी लेखक पर हमारे लेखक संघों और बुद्धिजीवियों की ठंडी चुप्पी जरूर हैरान करने वाली है।

स्मरण

दिल्ली से दूर सिद्धनाथ कुमार

प्रियदर्शन

सिद्धनाथ कुमार नहीं रहे। जब ये खबर पापा ने दी तो एक पल के लिए मैं गुमसुम-सा हो गया। क्या दिल्ली में कोई सिद्धनाथ कुमार को जानता होगा? क्या किसी को इस बात की परवाह भी होगी कि उनके निधन की कोई सूचना अखबार में किसी कोने में भी चली आए? सिद्धनाथ कुमार ने जो और जितना कुछ लिखा और किया, क्या उसका मोल इतना भर भी नहीं है कि हिंदी का साहित्य समाज उनके शोक के लिए स्थान और अवकाश निकाले?

मुझे रांची की याद आई, और अस्सी के उस दशक की जब साहित्य और रंगमंच की नियमित निरंतर चर्चाओं से वह छोटा-सा शहर गूंजता रहा था। इन चर्चाओं के केंद्र में जो कुछ वरिष्ठ लेखक हुआ करते थे, उनमें सिद्धनाथ कुमार महत्त्वपूर्ण थे। उन दिनों रांची का आईना रहे अखबार रांची एक्सप्रेस ने जब राधाकृष्ण पुरस्कार शुरू किया तो सिद्धनाथ कुमार उसके पहले निर्णायक मंडल में रहे। पहला पुरस्कार श्रवण कुमार गोस्वामी को उनके उपन्यास 'जंगल तंत्रम्' पर मिला। दूसरे वर्ष का पुरस्कार फादर कामिल बुल्के को गया। तीसरे वर्ष का पुरस्कार सिद्धनाथ कुमार को उनके रेडियो नाटक संग्रह, 'मुर्दे जिएँगे' के लिए दिया गया।

दरअसल नाटक और खासकर रेडियो नाटक ही वह विधा थी जिसमें सिद्धनाथ कुमार का रचनात्मक और आलोचनात्मक अवदान किसी भी दूसरे लेखक को चुनौती देता है। रेडियो की सीमित-सी गुंजाइश में उन्होंने ढेर सारी संभावनाएं पैदा कीं। 'सृष्टि की सांझ' और अन्य काव्य नाटक' जैसी किताब हो या जयशंकर प्रसाद पर केंद्रित उनकी आलोचना-रांची जैसे छोटे से शहर में बैठे सिद्धनाथ कुमार

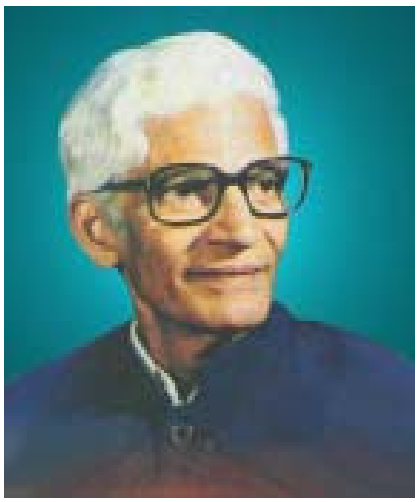

सिद्धनाथ कुमार

की सक्रियता एक राष्ट्रीय अनुगूंज पैदा करती रही।

लेकिन मैं ये सारी बात क्यों कर रहा हूं? सच तो यह है कि सिद्धनाथ कुमार के कृतित्व पर लिखने का अधिकारी मैं नहीं हूं। जिस नियमित अध्ययन और पठन-पाठन से आलोचना सधती है, उसका मेरी अराजक पाठचर्या में नितांत अभाव है। इसके अलावा जिस सिद्धनाथ कुमार को मैं जानता हूं, वे मेरे लेखक अभिभावकों–मां शैलप्रिया और पिता विद्याभूषण के वरिष्ठ मित्र और गुरु दोनों रहे। इसलिए मैं जब भी उनके या उनकी रचनाओं के करीब गया, कुछ अभिभावकत्व और कुछ गुरुत्व वाले भाव से दबा गया। वे भी जब मिले, तो उन्होंने एक किशोर लेखक से मिलने की सृहृदयता से कहीं ज्यादा अपने घर के किसी कनिष्ठ सदस्य से मिलने की आत्मीयता दिखाई।

पहली बार मैं उनसे कब मिला, मुझे ठीक-ठीक याद नहीं। लेकिन यह 84 या 85 का साल रहा होगा, क्योंकि ये वही दिन थे

जब मैं शहर के सांस्कृतिक जीवन का हिस्सा से पहली बार जुड रहा था। एक तरफ रंग-संस्था 'हस्ताक्षर' थी जिसके नियमित कार्यक्रमों के कार्ड वितरण से लेकर दूसरी तरह के दायित्व संभालते हुए मैं उन दिनों के तमाम वरिष्ठ लेखकों से मिला करता और दूसरी तरफ दूसरा शनिवार नाम पर करीब साल भर से ज्यादा समय तक चला एक नियमित मासिक आयोजन था जिसकी तैयारी के सिलसिले में मैं एक युवा सदस्य की भूमिका निभाया करता।

यही वह दौर था, जब मैं सिद्धनाथ कुमार से बार-बार मिला। आलोक हेसल के उनके घर में फूलों से खिला छोटा-सा बरामदा पार कर उनकी बैठक में पहुँचता। वे अक्सर मुस्कराते मिलते-मेरे लेखन की ताज़ा-तरीन सूचनाओं से लैस। अपने बारे में वे काफी कम बताते। यह एक छोटे शहर के संकोच से ज्यादा एक बड़े लेखक का शील था।

लेकिन सिद्धनाथ कुमार अपने बारे में भले न बताते हों, रांची में उनके बारे में बताने वाले लोग खूब थे। उनका लेखन, उनकी लेखन-शैली, उनकी नाट्य-समीक्षा, उनके रेडियो नाटक-यह अहसास सबको था कि उनके बीच एक बड़ा लेखक मौजूद है। वे सीधे टाइपराइटर पर लिखा करते हैं, यह जनश्रुति जैसी चीज रांची के छोटे-से लेखक-पाठक समुदाय को अचंभित-प्रमुदित किया करती थीं। बरसों बाद, जब दिल्ली आकर मैंने 'जनसत्ता' के दफ्तर में पहली बार कंप्यूटर को अपनी कलम बनाया तो मुझे सबसे पहले सिद्धनाथ कुमार याद आए।

लेकिन रांची में साहित्य की उस छोटी-सी क्यारी में आत्मीय और सुंदर फूल जितने भी खिलते हों, उनके विकसित होने की संभावनाएं अत्यंत सीमित थीं। वह मंच नहीं था जहां सिद्धनाथ कुमार के नाट्य-प्रयोगों की गुंजाइश बनती। मुझे याद है, शायद 1986 में रांची की नाट्य संस्था 'हस्ताक्षर' ने, जिसका मैं शायद सबसे युवा सदस्य था-उनके नाटक 'टूटा हुआ आदमी' के मंचन की योजना बनाई। रांची के वरिष्ठ रंगकर्मी और निर्देशक अशोक पागल इस रेडियो नाटक को मंचीय नाटक का रूप देने के लिए ज्यादा प्रयोग करने के पक्ष में नहीं थे। उल्टे उन्होंने मंच पर ध्वनि नाटक की कल्पना की-मंच की प्रकाश व्यवस्था से लेकर पात्रों की परिधान-परिकल्पना तक में ऐसी सादगी की कल्पना जिसमें नाटक की ध्वन्यात्मकता ही उसके चाक्षुष प्रभाव की वाहक बने।

लेकिन रांची के रंगमंच की तकनीकी सीमाएं इस कल्पनाशीलता का वहन नहीं कर पाईं। दुर्भाग्य से ध्वनि नाटक के इस प्रयोग में ध्वनि व्यवस्था ही बिगड़ गई और पूरे नाटक का आस्वाद भी। सिद्धनाथ कुमार को इस प्रस्तुति के बाद अपनी बात रखनी थी। उन्होंने रखी भी, लेकिन प्रस्तुति के इस तरह बेमानी हो जाने की मायूसी को रंगकर्मियों के उत्साह पर हावी नहीं होने दिया।

बहरहाल, रांची के बाहर कम लोगों को मालूम होगा कि सिद्धनाथ कुमार ने व्यंग्य भी खूब लिखे। रांची के सबसे पुराने और प्रतिष्ठित दैनिक 'रांची एक्सप्रेस' में बरसों उनका स्तंभ छपता रहा। इस स्तंभ में वह अतिशयोक्तिपूर्ण चटपटापन कम होता जो अखबारों के व्यंग्य लेखन में आम तौर पर दिखता है। लेकिन एक तरह की सादगी के बीच उनके व्यंग्य पाठकों का ध्यान खींचते। चाहें तो याद कर सकते हैं कि यह वही दौर था, जब रांची में किट्टू जैसे व्यंग्यकार मौजूद थे। इसके अलावा अशोक प्रियदर्शी और त्रिपुरारीशरण श्रीवास्तव भी अपनी चुटीली टिप्पणियों से पाठक बना रहे थे। इन सबके बीच सिद्धनाथ कुमार की कुछ अलग सी जगह थी।

उनके साथ मेरे जुड़ाव का एक और छोर रहा। मैं रांची में पढ़ाई करते वक्त ही 'रांची एक्सप्रेस' में तीन घंटों की नौकरी भी किया करता था। उन दिनों सिद्धनाथ कुमार के बड़े बेटे डॉ. संतोष कुमार मेरे सहकर्मी हुआ करते थे। अक्सर वे मेरी किसी टिप्पणी पर अपने पिता की प्रशंसामूलक राय बताते हुए मेरा उत्साह और हौसला दोनों बढ़ा जाते।

अब यह सब छूट चुका है। सिद्धनाथ कुमार सबको छोड़कर जा चुके हैं। 55 साल पहले, 1954 में प्रकाशित सिद्धनाथ कुमार की किताब 'सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य नाटक' की प्रस्तावना में प्रसिद्ध साहित्यकार रामवृक्ष बेनीपुरी ने लिखा 'हिंदी का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि एक छोर पर चमकने वाली बिजली दूसरे छोर पर दिखलाई नहीं पड़ती।'

लेकिन अब समझ में आता है कि यह हिंदी की भौगोलिक दूरी नहीं, मानसिक दूरी थी जिसने सिद्धनाथ कुमार और उनकी तरह के कई लेखकों को हाशिये पर रखा। पहले पटना, बनारस और इलाहाबाद, और अब दिल्ली हिंदी की उस केंद्रवादी प्रवृत्ति का चिंतित करने वाला आईना हैं जिसमें पूरे हिंदी संसार का चेहरा नहीं समाता। सिद्धनाथ कुमार इस दिल्ली से दूर थे, इसलिए ओझल रह गए।

ई-4, जनसत्ता सोसाइटी, सेक्टर 9, वसुंधरा, गाज़ियाबाद (उ.प्र.)

आत्मकथा का नया क्षितिज

अनंत विजय

हाल के दिनों में हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श के नाम पर जो खेल खेला जा रहा है और देह मुक्ति के नाम पर श्रद्धेय के प्रति समर्पण का जो रूप सतह के नीचे दिखाई देता है उसे विमर्श के अलावा कोई और नाम दिया जा सकता है। आप चाहें तो व्यभिचार का विमर्श कह सकते हैं। ये व्यभिचार सिर्फ विमर्श के नाम पर नहीं हो रहा है। धर्म, आस्था, विश्वास, कर्म के नाम पर भी ये खेल खेला जा रहा है। चाहे वो बाल विधवा आश्रम हो या वो नारी निकेतन हो या जैन आश्रम हो या फिर चर्च या इससे जुड़ी संस्थाएँ, हर जगह पर धर्म के आवरण में चकलाघर चलता है। हर जगह नारी मुक्ति के नाम पर, धर्म की आड़ लेकर यौन शोषण की खबरें बाहर निकलती रहती हैं। तमाम कानूनी बन्दिशों के बावजूद दक्षिण भारत में देवदासी प्रथा अब भी बदस्तूर जारी है, जहाँ लड़कियों को मन्दिर को समर्पित कर दिया जाता है, जहाँ भगवान के नाम पर उन लड़कियों का जमकर यौन शोषण किया जाता है। देश के कई इलाकों में आजादी के बाद वर्षों तक यह परम्परा रही कि जब लड़की का विवाह होता था तो उसे पहली रात विवाह करवाने वाले पन्डित के साथ गुजारना होता था। पूजनीय पन्डित जी धर्म और भगवान के नाम पर पहले उस कुँवारी कन्या को 'शुद्ध' कर आशीर्वाद देते थे। हद तो तब हो जाती थी जब पन्डित एक साथ कई लड़कियों की शादी करवाता था, तो वह अलग लड़कियों की शुद्धिकरण के लिए अपने कुनबे को इकट्ठा करता था और धर्म के नाम पर सब लोग मिलकर लड़कियों के अस्मत से खेलते थे।

ऐसा नहीं कि ये सब कुरीतियां सिर्फ हिन्दू धर्म में ही मौजूद हैं। कुछ दिनों पहले कोलकाता की लेखिका मधु कांकरिया के उपन्यास–'सेज पर संस्कृत' में जैन धर्म की संस्था और आस्था के नाम पर महिलाओं के शोषण को साहसपूर्वक सामने लाया गया है। और अब मलयालम में प्रकाशित सिस्टर जेस्मी की आत्मकथा 'आमीन : दि आटोबायोग्राफी ऑफ ए नन' ने चर्च और उससे जुड़ी संस्थाओं की पोल पट्टी खोलकर रख दी है। मलयाली भाषा में प्रकाशित इस उपन्यास के एक ही महीने में तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और अब ये आत्मकथा हिन्दी समेत मराठी और अंग्रेजी भाषाओं में प्रकाशित होने की प्रक्रिया में है। लगभग पैंतीस साल कांग्रेगेशन में गुजारने के बाद सिस्टर जेस्मी 2007 में वहाँ से बाहर निकलती है, गौरतलब है कि इन पैंतीस सालों में जेस्मी ने 26 साल बतौर नन गुजारे। इस आत्मकथा के प्रकाशन के बाद कैथालिक चर्च और उससे जुड़ी संस्थाओं में हड़कम्प है।

दरअसल यह आत्मकथा एक ऐसी लड़की की कहानी है जो एक ऐसे परिवार से आती है जहाँ बेटी की स्कूल फीस भरने की लिए उसकी माँ को जबरदस्त संघर्ष करना पड़ता है। यह वो दौर होता है जब जेस्मी बारहवीं की छात्रा थी। उस वक्त त्रिसूर के विशप जोसेफ कुंडुकुलम, जेस्मी की सहायता के लिए आगे आते हैं। जब भी फीस के लिए के लिए जेस्मी को पैसे ही जरूरत होती है तो वह बिशप हाउस जाती हैं। सेन्ट थॉमस कॉलेज के पास की तंग गलियों से बिशप हाउस तक जाने का भी बेहद दिलचस्प वर्णन है। किस तरह से कॉलेज के लड़के उस पर कागज की हवाई जहाज रूपी मिसाइल फेंका करते थे और किस तरह से चर्च के प्रीस्ट उसको खा जानेवाली नजरों से घूरा करते थे। इन घबराहटों के बीच वो बिशप से पैसे तो लेती थी लेकिन बगैर धन्यवाद दिए भाग आती थी। तमाम घटनाओं के बीच जेस्मी परिवार को सन्न कर देनेवाला फैसला लेती है और बारहवीं की परीक्षा के बाद यीशू को खुद को समर्पित कर देती है।

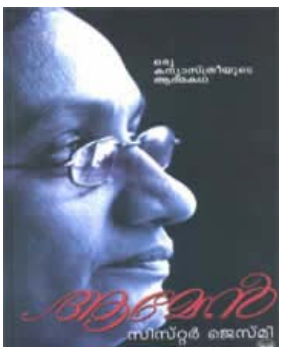

लेकिन ईसा मसीह को समर्पित होने के बाद जब वो कंफेशन के लिए जाती है तो उसको अपने चारों और एक रहस्यमय चुप्पी नजर आती है। आसपास चल रही खुसफुसाहट को जब वो ध्यान से सुनती है तो उसके होश फाख्ता हो जाते हैं। उसकी साथी कुसुमम और मारिया ने बताया कि जो भी लड़की कंफेशन के वक्त अन्दर कमरे में जाती है उसको वहाँ मौजूद प्रीस्ट 'किस' करता है। जब जेस्मी कंफेशन के लिए जाती है तो फादर उससे भी किस करने की इजाजत माँगता है, जिससे जेस्मी साफ इन्कार कर देती है। दूसरी बार जब उसे दवाब डालकर उसी प्रीस्ट के पास भेजा जाता है तो अन्दर जाकर जेस्मी फादर को आगाह करती है। कंफेशन रूम में 'किस' करने को लेकर कांग्रेगेशन की लड़कियों में बहुत रोष है। लेकिन डर से विरोध नहीं कर पा रही हैं। फादर का उत्तर बेहद दिलचस्प ही नहीं हैरान करनेवाला भी है–''मैंने हर किसी से 'किस' करने की इजाजत ली है और जिसने मना किया है उसको मैंने 'किस' नहीं किया। और ये सब तो जीसस और बाइबिल की आत्मा के अनुरूप है।'' लेकिन इस घटना

से फादर बेहद विचलित हो जाते हैं और एडोरेशन-कम हीलिंग सेशन को जल्द से खत्म करने का हुक्म सुना देते हैं वो भी एक हल्के से बहाने से। इस सेशन के बाद फादर के हुक्म से जेस्मी को उनके कमरे में भेजा जाता है। वहाँ फादर बाइबिल के पन्ने खोलकर 'होली किस' के कोट्स पढ़कर सुनाते हैं। आप भी इसे देखिए-सेंट पॉल ने कहा कि-एक दूसरे का अभिवादन पवित्र चुम्बन से करें। पीटर कहते हैं-एक दूसरों को प्यार के चुम्बन से विश करो, आदि आदि।

चर्च के शुरूआती दिनों में जेस्मी को सिर्फ फादर के 'किस' का ही सामना नहीं करना पड़ता है, उसका वास्ता मलयालम पढ़ानेवाली टीचर से भी पड़ता है, जो समलैंगिक है। उसने जैसे ही जेस्मी को देखा उसका दिल बल्लियों उछलने लगा और हालात पहली नजर में प्यार वाला पैदा हो गया। विम्मी ने जेस्मी को लम्बे-लम्बे प्रेम पत्र लिखकर अपने प्यार कर इजहार किया। हैरान और परेशान जेस्मी को तब तो करंट-सा झटका लगा जब एक पत्र में विम्मी ने उसके साथ समलैंगिक रिश्ते बनाने की बात का इजहार किया। जब विम्मी को जेस्मी की तरफ से सकारात्मक जबाव नहीं मिलता है तो वह जेस्मी के खिलाफ षड़यन्त्र रचने में जुट जाती है। जेस्मी पर जब चौतरफा दबाव बढ़ा तो उसने विम्मी के आगे समर्पण कर दिया। रात में विम्मी उसके बिस्तर में घुस आती थी और उसके साथ लेस्बियन रिश्ता कायम करती थी। जब वो ये सम्बन्ध बना रही होती तो हमेशा जेस्मी के कान में कहती गर्भ के झंझट से बचने का सबसे सुरक्षित तरीका यही सम्बन्ध है।

जेस्मी लम्बे समय तक इस सम्बन्ध को झेलती रहती है लेकिन जब इंतहां होने लगती है तो वो मदर प्रोवेंशियल से दया की भीख माँगती है और किसी तरह वहाँ से अपना तबादला करवा लेती है। जब उसका ट्रान्सफर ऑर्डर आता है तो विम्मी उसे बुरी तरह से धमकाती और प्रताड़ित करती है और कहती है कि वो उसे चैन से नहीं रहने देगी। जो कालान्तर में सच भी साबित होता है।

नन के लिए सबसे बड़ी सजा होती है कि उसे कोई काम नहीं दिया जाए। तबादले के बाद ये खेल जेस्मी के साथ शुरू होता है, पहले उसका सामाजिक बहिष्कार किया जाता है और फिर उसे मानसिक तौर पर बीमार साबित करने के लिए तमाम दन्द-फन्द रचे जाते हैं। मदर प्रोवेंशियल क्लोडिया उसे पागल करार देना चाहती है। ये तमाम षडयन्त्र चीख-चीखकर इस बात की गवाही देते हैं कि किस तरह से ननरी में कुछ लोग मिलकर एक सिंडिकेट की तरह ऑपरेट करते हैं और यौन शोषण के खिलाफ आवाज उठाने-वाले को पागल करार देकर नर्क में धकेल देते हैं।

इस आत्मकथा में जीसस और बाइबिल के नाम पर दैहिक शोषण और फादर और नन के बीच अवैध सम्बन्ध बनाने की कोशिशों का भी पर्दाफाश किया गया है। सिस्टर जेस्मी की शीघ्र प्रकाश्य इस आत्मकथा ने कैथोलिक समुदाय के बीच एक सन्नाटे-जैसी स्थिति पैदा की है और चर्च को इसपर आधिकारिक प्रतिक्रिया देते नहीं बन रहा। शायद बाइबिल से कोई उद्धरण खोजा जा रहा होगा ताकि उसके आधार पर सिस्टर को माफ किया जा सके। वैसे क्रिश्चनिटी में कई विडम्बनाएँ हैं और सबसे बड़ी विडम्बना तो ये है कि अगर कोई कुँवारी लड़की माँ बनती है और बच्चा पैदा करती है और उसके बाद शादी करना चाहती है तो उसकी शादी चर्च में नहीं हो सकती। यहाँ ये बताते चलें कि ईसा मसीह का जन्म मेरी नाम की कुँवारी कन्या से ही हुआ था।

इन सबसे इतर अगर हम इस आत्मकथा को हिन्दी में प्रकाशित और चर्चित आत्म-कथाओं के बरख्श रखकर देखें तो एक बुनियादी फर्क नजर आता है। इसमें जो सेक्स प्रसंग है वो कथा के साथ सहजता से आते हैं और वास्तविकता का एहसास कराते हैं जबकि हिन्दी की आत्मकथाओं में जबरदस्ती ठूँसे गए प्रतीत होते हैं।

आमीन : द स्टोरी ऑफ ए नन/ सिस्टर जेस्मी/ पेंग्विन बुक्स, दिल्ली/ मूल्य : पुस्तक प्रकाशन क्रम में

321-बी, शिप्रा सनसिटी, इन्दिरापुरम, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश-201014

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

छवि - संग्रह

यों तो किसी भी लेखक की सबसे जीवंत उपस्थिति उसकी रचना में होती है पर जैसे हम एक रचना पढ़कर दूसरी रचना खोजते या एक पुस्तक से गुज़रकर दूसरी के लिए उत्सुक अधीर होते हैं वैसे ही हमें इच्छा होती है यह जानने की कि वह लेखक कैसा दीखता है उसका पासपड़ोस कैसा है, वह किनकी सोहबत में रहता आया है, आदि। छवि-संग्रह के माध्यम से हमारा यत्न समकालीन मूर्धन्य लेखकों पर ऐसी सामग्री एकत्र और विन्यस्त करना है तो एकबारगी हमें लेखक के समूचे कृतित्व, उस पर विभिन्न अभिमतों, उसके लिखे, चुने हुए अंशों, उसके अनुवादों, मित्रों, यात्राओं, पड़ोस आदि से अवगत करा दे। यह लेखक को उसकी कृतियों, उसके परिवेश और उसके ठोस संदर्भ में जीवित उपस्थिति के रूप में साक्षात् करने की कोशिश है। यह एक सीरीज है जिसमें, हमें उम्मीद है, हम अनेक मूर्धन्य लेखकों को एक-एक कर उपस्थित कर सकेंगे।

अभी तक प्रकाशित छवि-संग्रह :

निर्मल वर्मा, कुँवर नारायण, कृष्णा सोबती, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, नेमिचंद्र जैन, मनोहर श्याम जोशी और नामवर सिंह

फिल्म

मुम्बइया फार्मूलों का कोलाज़

मुकेश कुमार

स्लमडॉग मिलियनेयर के प्रचार के लिए लगाए गए पोस्टरों पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा गया है 'फील गुड स्टोरी ऑफ द डिकेड'। ये एक लाइन ही इस फिल्म के औचित्य को सिद्ध करने के लिए काफी है। ये पंक्ति बताती है कि इस फिल्म के निर्माण का उद्देश्य क्या है। अन्यथा क्या किसी फिल्म की खूबी उसकी अन्तर्वस्तु या उसका कलात्मक सौन्दर्य न होकर सिर्फ ये हो सकता है कि वह दर्शकों को खुशी का एहसास कराती है। अगर मन्दी के मारे पश्चिमी दर्शकों या हिन्दुस्तान के अभिजनों के लिए ये सर्वोच्च कसौटी हो सकती है तो हमें कुछ नहीं कहना, क्योंकि उन्हें जिस तरह के मनोरंजन की खोज है वह स्लमडॉग मिलियनेयर में उन्हें मिल जाता है। ये सर्वविदित है कि फील गुड का मुहावरा दरअसल, बाजारवाद की कोख से जन्मा है। राजनीति से लेकर टीवी चैनलों तक सब जगह इसका इस्तेमाल किया जा चुका है। इसका एकमात्र मकसद अप्रिय और विचलित करने वाली चीजों से ध्यान हटाकर उपभोक्ता वर्ग को मनोरंजन प्रदान करना है। हालाँकि दुनिया भर में उदारवाद का नुस्खा फैल हो चुका है, मगर शायद पूँजीवाद के पैरोकार इस उत्तर उदारवादी समय में भी उसकी सफलता की कामना करने में लगे हुए हैं। इसीलिए स्लमडॉग मिलनेयर जैसी फिल्में बन रही हैं और वाहवाही भी बटोर रही हैं। विशेष रूप से मन्दी से आक्रान्त पश्चिमी समाज में।

मगर यदि स्लमडॉग मिलियनेयर केवल फील गुड फैक्टर को बनाए रखने का उद्देश्य पूरा कर रही है तो जाहिर है कि वह इस माध्यम का सही उपयोग नहीं है। यदि ये मान भी लिया जाए कि फिल्म निर्माण बाजार की गतिविधियों का ही एक हिस्सा है और वह व्यापारिक सफलता के लिए कुछ करती है तो इसमें कोई बुराई नहीं है मगर अफसोस की बात ये है कि अच्छी फिल्मों की पहचान इस आधार पर नहीं की जाती और क्लासिक फिल्मों की तो कतई नहीं। दलील दी जा सकती है कि डैनी बॉयल की ये फिल्म दूसरे मानदंडों पर भी कमतर नहीं है। मसलन, पटकथा से लेकर निर्देशन, संगीत और फिल्मांकन तक हर स्तर पर इसमें कला के उच्च स्तर के दर्शन भी किए जा सकते हैं। फिल्म की सिनेमेटोग्राफी और सम्पादन तो कमाल का ही है। बार-बार वर्तमान से अतीत में वापसी के लिए फ्लैश बैक का प्रयोग फिल्म को बाँधने के साथ-साथ दर्शक को चमत्कृत करने वाला भी लगता है। संगीत के लिए ए. आर. रहमान की हर ओर प्रशंसा हो रही है और उन्हें पुरस्कार भी मिले हैं मगर इस फिल्म में उनका सर्वश्रेष्ठ संगीत नहीं है ये वह भी मानेंगे। 'रोजा' और 'बाम्बे' संगीत के लिहाज से कहीं बेहतर फिल्में थीं।

बहरहाल, तारीफ का ये सिलसिला यहीं जाकर थम जाता है क्योंकि अच्छी फिल्म को इसी आधार पर आँका जाता है कि अतत: वह दर्शक के दिल-ओ-दिमाग पर किस तरह का असर छोड़ती है। इस लिहाज़ से देखा जाए तो स्लमडॉग मिलियनेयर बेहद निराश करनी वाली फिल्म है। वह झूठा सपना रचती है, पलायन के रास्ते दिखाती है। व्यवस्था का कड़वा सच दिखाते-दिखाते वह उसे महिमामंडित करने लगती है। इस फिल्म में गरीबी और झुग्गी-झोपड़ी के नारकीय जीवन का महिमागान है। इसमें अभावग्रस्त लोगों की जिन्दगी मानो एक लॉटरी जैसी है। वे एक नियति को जीते हैं, उनके हाथ में न अपना वर्तमान है और न ही भविष्य।

दरअसल, अगर शानदर पैकेजिंग को किनारे रखकर देखा जाए तो स्लमडॉग मिलियनेयर एक बम्बइया मसाला फिल्म है। इसमें हर तरह के चालू नुस्खे आजमाए गए हैं। दो भाइयों का बिछड़ना, बचपन से शुरू होकर परवान चढ़ने वाला आवेगपूर्ण एक जबरदस्त प्रेम कहानी, विपन्नता के रसातल से प्रसिद्धि एवं संपन्नता के शिखर पर पहुँचना, बालीवुड के सुपर हिट फार्मूला में से हैं। इसी में दंगे, अंडरवर्ल्ड की दुनिया, यौन शोषण, बलात्कार वगैरा सब कुछ पिरोया गया है। निर्देशक ने इस फिल्म को मुम्बई को समर्पित किया है लेकिन मुम्बई की हकीकत से इसका कोई वास्ता नहीं है। हाँ, ये मुम्बई को लेकर की गई फिल्मी कल्पनाओं और स्टारियोटाइप छवियों का कोलाज जरूर है। बहुत सारे दृश्य तो पुरानी फिल्मों की याद तक दिलाते हैं।

यहीं आकर ये विवाद आधारहीन लगने लगता है कि डायल ने भी सत्यजित रे की तरह

भारत की गरीबी को भुनाने की कोशिश की है। सत्यचित रे पर आरोप लगाए जाते रहे हैं कि उन्होंने अपनी फिल्मों में भारत की गरीबी को इसलिए बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया ताकि पश्चिम में उन्हें वाहवाही मिले। नरगिस दत्त ने तो उन पर देश को बदनाम करने का आरोप तक लगा डाला था। बाद में श्याम बेनेगल, ऋत्विक घटक, बिमल रॉय, अडूर गोपालकृष्णन, गोविन्द निहलानी जैसे कई फिल्मकारों पर भी ये आरोप लगाए गए हैं। ये सही है कि पश्चिम में गरीबी देखने वालों का एक बड़ा बाजार है। पश्चिमी लोगों के लिए भारतीय झुग्गी-झोपड़ी भी पर्यटनस्थल की तरह है और अगर फिल्मकार उन्हें आकर्षित करने के लिए इस तरह के हथकंडे अपनाते हैं तो आश्चर्य नहीं है। मगर सत्यजीत रे और डैनी बॉयल को यहाँ समानान्तर रखकर देखना सत्यजीत रे के साथ अन्याय करना होगा। अगर गरीबी दिखाने को इसी वर्ग में खड़ा कर दिया गया तो फिर गरीबी को चित्रित करना ही मुश्किल हो जाएगा। अगर इन दोनों की फिल्मों का तुलनात्मक अध्ययन ही करना हो तो हम पाएँगे कि सत्यजीत रे की फिल्में पश्चिमी पूर्वग्रहों से प्रेरित नहीं थीं। उनमें विपन्नता की कलात्मक प्रस्तुति तो थी लेकिन उसके दोहन की नीयत नहीं थी। डैनी बॉयल को फिल्म में ये साफ तौर पर देखा जा सकता है। उन्होंने गरीबी और झुग्गी-झोपड़ियों के जीवन को सनसनीखेज बनाकर पेश किया है। वे भव्य दृश्यों के साथ एक तरह के रोमांच का निर्माण करते हैं जो दर्शकों को रोमांचित तो करता है मगर उसके एहसास को उस तरह से विचलित नहीं करता जिस तरह से सत्यजीत रे करते हैं। स्लमडॉग मिलियनेयर में अभावग्रस्त जीवन महिमामंडित होता है और वह आनन्ददायक बना दिया जाता है।

दरअसल, अब इसे बाजार की आवश्यकता का नाम दें या फिर पश्चिमी पूर्वाग्रह कहें मगर डैनी बॉयल ने स्लमडॉग मिलियनेयर में वे सारे मसाले या आकर्षण डालें हैं जिसे पश्चिम देखना चाहता है। इसीलिए उन्होंने झुग्गी-झोपड़ियों के साथ काल सेंटर्स की मिक्सिंग की है। उदारवाद के पहले और बाद भारत की इन दो तस्वीरों से ही पश्चिम परिचित है। एक तस्वीर गरीबी के साथ-साथ सपेरा और मदारियों का है तो दूसरी उदारवादी दौर में पला-पुसा सूचना क्रान्ति का। पश्चिमी लेखक भी इन्हीं छवियों को पकड़ते रहे हैं। हाल में आई अमेरिकी पत्रकार थामस एल. फ्राडमन की बहुचर्चित किताब 'द वर्ल्ड इज़ फ्लैट' में भी आईटी के क्षेत्र में हासिल की गई उपलब्धियों को ही आधार बनाकर भ्रम पैदा करने की कोशिश की गई कि अब दुनिया समतल हो गई है और सबके लिए आगे बढ़ने के अवसर पैदा हो गए हैं। फ्रांसिसी लेखक एवं इंडोलॉजिस्ट जी सोमॉ भी अपनी किताब 'भारत की आत्मा' में आईटी की वजह से आ रहे बदलाव से उत्साहित नजर आते हैं।

बहरहाल, इन दो विलोमों को डैनी बॉयल ने आमने-सामने रखकर एक कंट्रास्ट पैदा किया है। हालाँकि ये एक हद तक सच भी है, क्योंकि भूमण्डलीकरण और उदारवाद ने इंडिया और हिन्दुस्तान की फांक को और गहरा किया है। लेकिन फिल्म स्लमडॉग मिलिनेयर में इनका सह-अस्तित्व तो दिखता है टकराव नहीं और चूँकि फिल्म इतनी तेज गति से भागती है कि आम दर्शक ये सब पकड़ ही नहीं पाता। उसके हिस्से में तो आता है रोमांच और तमाम अवरोधों के बावजूद एक झुग्गीवासी की सफलता की सुखान्त कहानी जो छुटपन की प्रेमिका से पुनर्मिलन के साथ खत्म होती है।

अगर तथायात्मक नजरिए से भी देखा जाए तो स्लमडॉग मिलियनेयर में कई गलतियाँ नजर आएँगी। कुछ चीजें तो सरासर अविश्वसनीय ही हैं, मसलन, कौन बनेगा करोड़पति में पूछे गए कई सवालों के जवाब। अब अगर कोई रिवाल्वर के अविष्कारक का नाम इसलिए बता दे कि उसने अपने भाई को उसका इस्तेमाल करते हुए देखा था तो ये चमत्कार ही कहा जाएगा। इसी तरह डॉलर में बनी तस्वीर के बारे में उसे कभी उसके एक नेत्रहीन भिखारी दोस्त ने बताया था और उसे वह याद रह गया था इसलिए उसने उस सवाल का जवाब भी सही-सही दे डाला। संयोगों की तो इतनी भरमार कर दी गई है कि वे संयोग ही नहीं रह जाते एक तरह की नियति का निर्माण कर देते हैं जो कि जाहिर है यकीन से परे है।

वैसे कुछेक दृश्य विवादास्पद होते हुए भी बहुत सटीक कहे जा सकते हैं। खास तौर पर अमिताभ बच्चन का ऑटोग्राफ लेने के लिए बच्चे का विष्ठा के कुंड में छलाँग लगा देने वाला दृश्य। व्यंग्य से भरपूर इस दृश्य में बच्चे के सामने दो ही विकल्प बचते हैं या तो वो अमिताभ बच्चन को देखने और उसका ऑटोग्राफ लेने के लिए विष्ठा-कुंड में छलाँग लगा दे या फिर उसे भूल जाए। बच्चा एक बार अमिताभ बच्चन की तस्वीर ऊपर उठाकर देखता है और फिर नीचे विष्ठा-कुंड को। फिर पल भर में धर्मसंकट से उबरते हुए वह कुंड में कूद जाता है और आखिरकार ऑटोग्राफ लेने में कामयाब भी हो जाता है। फिल्म स्टार को लेकर दीवानगी पर ये एक जबरदस्त टिप्पणी है। कुछ की नजर में ये अमिताभ बच्चन फिनामिना के साथ अन्याय हो सकता है। मुमकिन है कि अमिताभ बच्चन भी इससे बौखला गए हों। मगर ये दृश्य फिल्म स्टार्स के दीवानों की मनोदशा को दर्शाने में सफल रहता है।

इस फिल्म में अगर सचमुच तारीफ के काबिल कोई चीज है तो वह उन बच्चों का अभिनय है जिन्होंने मुख्य पात्रों के बचपन के किरदार निभाए हैं। बच्चों का अभिनय बहुत ही सहज और स्वाभाविक है तथा दर्शकों को हैरत में डालता है। खास तौर पर जमाल की भूमिका निभाने वाले बच्चे ने तो कमाल का अभिनय किया है। उनकी तुलना में देव पटेल या फ्रीडा पिन्टा बहुत प्रभावित नहीं करते।

स्लमडॉग मिलियनेयर को कितने ही पुरस्कारों से क्यों न नवाज दिया जाए और वह व्यावसायिक सफलता के चाहे कितने ही झंडे क्यों न गाड़ दे। मगर वह लम्बे अरसे तक याद नहीं की जाएगी। वह एक सनसनी की तरह आई है और सनसनी की तरह की गुम हो जाएगी। हालाँकि 'स्लमडॉग मिलियनेयर' और 'गाँधी' के बीच तुलना करने की कोई तुक नहीं है। मगर फिर भी भारतीय विषयों पर बनी पश्चिमी फिल्मकारों की फिल्मों में रिचर्ड एटनबरो की गाँधी ज्यादा कलात्मक यथार्थवादी और स्मरणीय है और रहेगी।

एस.आर.सी., 27बी, शिप्रा रिवेरा, इंदिरापुरम, गाजियाबाद (उत्तरप्रदेश)